पूज्य श्री अमोलकऋषिजी म. स्मारक ग्रन्थमाला पुष्प संख्या ५६

मल्लि-जिन

आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डा

प्रवचनकारः—

पण्डित मुनि श्री कल्याणऋषिज

संयोजक —

दूरदर्शी महात्मा श्री मुल्तानऋषिजी महाराज
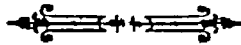
सम्पादकः—

काव्यतीर्थ पं० शान्तप्रकाशजी "सत्यदास"

वीर सम्वत् २४८३ अमोलाब्द	मूल्य १) रुपया ([illegible])	विक्रम संवत् २०१४ अगस्त

प्रकाशक की ओर से

[आभार]

सुज्ञ पाठकवृन्द !

आज कल अनेक विद्वान् मुनिवरों के व्याख्यानसंग्रह प्रकाशित हो रहे हैं। सचमुच पुस्तकरूप में प्रकाशित व्याख्यानों का अपना अनूठा महत्त्व है, क्यों कि उन-उन विद्वान् मुनिराजों के यशश्चन्द्र की निर्मल धवल ज्योत्स्ना को प्रसारित करती हुई यह विचार-सामग्री चिरकाल तक अनेक भव्यात्माओं को बार-बार सन्मार्ग का सही परिचय देती रहती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यही सोच कर हमारी प्रकाशन संस्था के सफल सहयोगी शान्तस्वभावी बालब्रह्मचारी प० मुनि श्री कल्याणऋषिजी म. सा. के प्रवचनों का यह संग्रह "मल्लि-जिन" के नाम से प्रकाशित करने का संकल्प किया गया था, किन्तु कोरे संकल्प से तो कुछ हो नहीं सकता था, उसके लिए आर्थिक-सहायता की भी आवश्यकता थी। सुयोग से उस आवश्यकता की पूर्ति भी सहज ही हो गई।

बात यह हुई कि चोपडा (पू० खा०) में विराजित स्थविरा वयोवृद्ध महासती श्री हेमकुँवरजी म० के अस्वास्थ्य के बार-बार आये हुए समाचारों तथा साग्रह की गई प्रार्थना पर ध्यान देकर प० मुनि श्री तथा दूरदर्शी महात्मा श्री मुल्तानऋषिजी म० आदि ठाणे ५ ने महासतीजी को दर्शन देने के लिए अमलनेर होते हुए चोपडा की ओर प्रस्थान किया। यहां स्थविरा महासतीजी तथा परमविदुषी मनोहर-व्याख्यात्री महासती श्री रामकुँवरजी म० आदि महासती मण्डल के अत्यन्त आग्रह को देख कर तथा चोपडा

के श्रावक-श्राविका-सघ की प्रबल भावपूर्ण प्रार्थना पर ध्यान देकर प० मुनि श्री को फागणी-पौर्णिमा तक वहां ठहरने की स्वीकृति देनी ही पडी। प० मुनि श्री ज्ञाताधर्मसूत्र के आठवे अध्ययन पर प्रतिदिन प्रवचन देते थे। साथ ही प० श्री शान्तप्रकाशजी "सत्य-दास" उन प्रवचनो का सम्पादन भी करते जाते थे। धीरे-धीरे वह अध्ययन पूर्ण हो गया। यह देख कर स्थविरा महासतीजी ने स्थानीय श्रावक-श्राविका-संघ को प्रोत्साहन देते हुए प्रेरणा की कि "इस पुस्तक की समाप्ति चोपडा में हुई है, इसलिए इसका प्रकाशन भी चोपडा के दानवीरो की ओर से ही होना चाहिए।"

स्थविरा महासतीजी वयोवृद्ध हैं, अनुभवी हैं, व्यवहार-कुशल हैं और इसीलिए स्थानीय श्रावक-श्राविकाओं के हृदय में उन्होंने अपना स्थान बना रक्खा है। इस लिए उनके वचनों का प्रभाव तुरन्त दिखाई दिया और तुरन्त चोपडा, तोंदा, हिसाला और साखली के दानवीरो ने निम्नलिखित आर्थिक सहायता देने की स्वीकृति देकर अपनी उदारता का परिचय दिया —

३०१-०-० स्था० जैन श्रावक सघ—चोपडा (पू० खा०)
२५१-१४-० ,, ,, श्राविका सघ- ,, ,,)
१४१-०-० श्री हीरालालजी सोमचन्दजी सरावगी साखली
५१-०-० स्व० श्री बादरमलजी चोपडा के सुपुत्र श्री रूप-चंदजी (अपनी माता श्री धापूबाई के कहने से) तोंदा (पू० खा०)
५१-०-० स्व० श्री धनराजजी सांडेचा के सुपुत्र श्री मिश्रो-लालजी (अपने दादा श्री पूनमचंदजी के कहने से) हिसाला (पू खा)

इन विद्याप्रेमी दानवीरों की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। महासतीजी की प्रेरणा से प्रभावित होकर इन्होने जो कुछ त्याग किया है, वह ज्ञान के प्रचार मे लग कर सफल हुआ है—इसमें सन्देह नहीं।

स्थविरा महासतीजी का साहित्य-प्रेम सराहनीय है। आपने पहले भी अनेक बार हमारी सस्था को इसी प्रकार आर्थिक-सहायता दिलवाई है—दिलवाती रहती हैं तथा भविष्य मे भी उनसे हमें काफी आशाएँ है।

सस्था की ओर से मैं वन्दनीया महासतीजी का तथा उपर्युक्त दानवीरो का अन्त. करण से आभार मानना अपना एक आवश्यक कर्त्तव्य समझता हूँ और अपेक्षा रखता हूँ कि ज्ञानप्रसार जैसी सत्प्रवृत्तियो में सब लोग इसी प्रकार यथाशक्ति सहयोग देकर समय-समय पर अपनी सम्पत्ति को सफल बनाते रहे। इत्यलम् ॥

[सूचना—स्मरण रहे कि उपलब्ध आर्थिक-सहायता के अतिरिक्त सम्पादनादि में होने वाला अवशिष्ट व्ययभार सस्था ने उठाया है !]

धूलिया (प० खा०)
अगस्त १९५७

कन्हैयालाल छाजेड़
मन्त्री—श्री अमोल जैन ज्ञानालय

सम्पादक की कलम से

आदरणीय वाचक वृन्द !

"महिला जीवन मणिमाला" की यह उन्नीसवीं मणि आपकी सेवा मे प्रस्तुत है। आकस्मिक सुयोग की बात देखिये कि जिस महामहिला की जीवनी का इसमे वर्णन है, वर्त्तमान-चौवीसी मे उसकी क्रमसङ्ख्या भी उन्नीसवीं है। इसके पहले प्रकाशित अट्ठारह भागो मे प्राय स्त्रीशिक्षा की प्रधानता रही है, किन्तु इस पुस्तक का लाभ स्त्रीवर्ग और पुरुषवर्ग दोनों को समानरूप से मिल सकेगा-ऐसा मेरा विश्वास है।

भगवती मल्ली कुमारी का सारा जीवन स्त्रियों के लिए आदर्श है। विकट संकटो के बीच भी बिना घबराए धैर्य धारण करके किस प्रकार बुद्धिमानी से काम लेना चाहिए-यह बात सीखने जैसी है। पुरुष भी श्रावक अरणक की प्रासगिक जीवनी से धैर्य सहिष्णुता और धार्मिक दृढ़ता सीख सकते है।

युवराज महाबल और जित शत्रु प्रमुख छह राजाओ के जीवन से भी बहुत-कुछ सीखा जा सकता है। यद्यपि जीवन के पूर्वार्द्ध में इन सातो से भूलें हुई है, फिर भी भूल न करने वालों से ही सीखने को मिलता है और भूल करने वालो से नहीं-ऐसा समझने की भूल न करनी चाहिए। एक सदाचारी महात्मा से प्रभावित होकर जब किसी ने उनसे पूछा कि "आपके गुरु कौन हैं? आपने यह सब किन से सीखा?" तो इस पर महात्माजी का उत्तर था —अज्ञानियो से, मूर्खों से, दुष्टो से। क्यों कि जैसा वे करते है, मैं वैसा नहीं करने को कोशिश में रहता हूं।

विना किसी प्रकार की हिंसा किये ही महामहिम महामहिला श्री मल्लीकुमारी ने केवल युक्ति से शत्रुओं को मित्र, घमण्डियों को विनीत, दुराचारियो को सदाचारी, भोगियो को त्यागी, विलासियों को संयमी और लोभियों को अकिंचन बनाने मे जिस प्रकार सफलता पाई थी, सो बात समझ मे आते ही सब की आँखें खुल सकती हैं। नरनारी समभाव की आवाज उठाने वाले आधुनिक सुधारको की भी और प्राचीन परम्परा-प्रेमी बुजुर्गों की भी [जो नारी को कमजोर (अबला) समझते है] नारी की शक्ति और सामर्थ्य पुरुष से कम नही है—यह बात पुस्तक पढ लेने पर अपने आप समझ मे आ जायगी।

प० मुनि श्री कल्याण ऋषिजी महाराज की प्रवचन शैली मे प्रश्नोत्तर की प्रधानता रहती है। वे स्वयं प्रश्न उठाते हैं और स्वयं ही उसका समाधान करते चलते हैं। पुस्तक पढ़ते समय स्थान-स्थान पर पाठकों को इस बात का आभास मिलेगा।

सम्पादन मे इस बात का बहुत-कुछ ध्यान रक्खा गया है कि भाषा में सरलता बनी रहे, प्रवचनो मे आई हुई एक भी आवश्यक बात छूट न पाये, इतने पर भी कम से कम शब्दो में अधिक से अधिक भाव प्रकट किये जायँ। [इस बात का यह भी एक सबूत है कि प० मुनि श्री के कुल ८६ प्रवचनो का समावेश केवल २४ प्रकरणो में हो गया है।]

अन्त में एक बात और कह दू कि इस पुस्तक मे प्रकाशित सभी विचारों से मेरा सहमत होना अनिवार्य नहीं है, क्यो कि मैंने तो केवल प० मुनि श्री के भावों को ही अपनी भाषा को पोशाक पहिनाई है। हाँ, मुनियों की भाषा काफी संयत होती है,

इसलिए सावधानी रखने पर भी यदि कहीं उसका निर्वाह ठीक ढंग से न हो सका हो, तो उसका उत्तरदायित्व मुझ पर है।

पुनश्चः—यदि कोई सज्जन इस पुस्तक को पढ़ने के बाद आवश्यक सूचनाएँ या अपने सुझाव लिखने की कृपा करेंगे तो अगले संस्करण में वैसा सुधार कर दिया जायगा।

जन्मभूमि —
बडी सादडी (मेवाड)
१५ अप्रेल १९५७ ई०

—शान्तप्रकाश "सत्यदास"
(काव्यतीर्थ, साहित्य विशारद)

विषयानुक्रमणिका

प्रारम्भिक-वक्तव्य

सज्जनो !

इस चराचर जगत् मे नजर डाली जाय तो मालूम होगा कि प्राणियो के केवल दो ही प्रकार हैं— स्त्री और पुरुष । दोनो परस्पर पूरक हैं । स्त्री घर की व्यवस्था करती है; पुरुष बाहर का कार्य सम्हालता है । दोनो मे से एक कम हो तो परिवार का पालन-पोषण ठीक ढंग से नहीं हो सकता । कहा जाता है —"गृहिण्या गृहमुच्यते" अर्थात्—गृहिणी के बिना गृहस्थ की शोभा नहीं । कौटुम्बिक दृष्टि से ही नहीं, धर्म की दृष्टि से भी पत्नी को अनुकूल माना गया है । धर्माचार्यों ने उसे "धम्मसहाया" अथवा "सह-धर्मिणी" कह कर यही आशय प्रकट किया है कि वह धर्म में सहायिका बनती है । महासती चेलना का उदाहरण इस बात का समर्थक है ।

पृथ्वी और आकाश—इन दोनों की जरूरत जीवित रहने के लिए जैसे अनिवार्य है, उसी प्रकार गृहस्थी-जीवन मे माता और पिता, पति और पत्नी, बच्चा और बच्ची अर्थात्—संक्षेप में कहा जाय तो स्त्री और पुरुष की अनिवार्यता है । यही सोचकर भगवान् महावीर ने जैसे साधुओं को प्रव्रज्या का अधिकारी बताया, वैसे ही साध्वियों को भी । उन्होंने अपने तीर्थ अर्थात्—चतुर्विध-संघ में श्रावकों के साथ श्राविकाओं को भी स्थान दिया है । वृक्ष और लता दोनों से बगीचे की शोभा है, उसी प्रकार साधु और साध्वी तथा श्रावक और श्राविका इन दोनों से तीर्थ की शोभा है ।

लिंग, वेषभूषा और घूँघट आदि के भेद गौण हैं । क्योंकि ये मुक्ति के न साधक हैं, न बाधक । साधक तो सम्यग ज्ञान,

सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र हैं। जो स्त्री चार घाति कर्मों का क्षय करके कैवल्य प्राप्त करती है, वह मोक्ष में जाती है।

स्त्री की मुक्ति असंभव मानने वाले हमारे कुछ बन्धु स्त्री के अधिकारों को कुचल कर उसके प्रति अन्याय करते हैं। किन्तु उनकी इस मान्यता से वास्तव मे स्त्रियों पर अन्याय सफल नहीं हो पाता, क्योंकि केवल किसी मान्यता से नारी की मुक्ति रुक नहीं सकती। पुरुषों के समान स्त्री भी सम्यक्त्व धारण करती है, श्रावकों के व्रत स्वीकार करके वह भी श्रमणोपासिका (श्राविका) बनती है! यहा तक कि 'प्रमत्तसंयत' नामक छठे गुणस्थान मे भी प्रवेश करके साध्वी या श्रमणी बनती है, तब कोई कारण नहीं कि जो इतनी आगे बढ़ सकती है, वह और आगे न बढ़ सके, चार प्रबल कर्मों को नष्ट करके केवल ज्ञान, केवल दर्शन आदि प्राप्त न कर सके और मोक्ष में न जा सके?

शास्त्रीय-इतिहास में अनेक उदाहरण ऐसे पाये जाते हैं, कि जहाँ पुरुष के पहले ही स्त्री मोक्ष में चली गई। माता मरुदेवी अपने पुत्र ऋषभदेव (आदिनाथ) जिसे पहले ही केवलज्ञान प्राप्त होगया था—के पहले मोक्ष में गई। महासती राजीमती भी (अपने होने वाले पति) अरिष्टनेमि से ५४ दिन पहले ही मोक्ष में पधार गई। यहाँ भी आज से आपको ऐसी ही एक महामहिम महिला का जीवनचरित्र सुनाया जा रहा है, जो सांसारिक भोग-विलासों की उपेक्षा कर के प्रव्रजित हुई। घोर तप से क्रमश. केवल-ज्ञान प्राप्त करके अनेक भव्य जीवों को प्रतिबोध देती हुई मोक्ष में जा विराजीं। जिन्हें हम उन्नीसवें तीर्थंकर के नाम से जानते-पहिचानते हैं और श्रद्धा से प्रात. काल उठते ही प्रणाम करते हैं। इत्यलम्॥
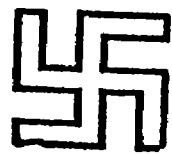
मल्ली जिन

१-परिचय
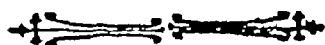
कल के प्रवचन मे यह सकल्प प्रकट किया गया था कि एक ऐसी महिला का जीवन चरित्र सुनाया जाने वाला है, जो कर्मों का क्षय करके मोक्ष मे पधारी। कथानक प्रारंभ करने से पहले परिचय जान लेना जरूरी होता है।

सूत्रो मे आये हुए सारे कथानक आचार्य सुधर्मास्वामी और श्री जम्बूस्वामी की पारस्परिक बातचीत के रूप मे प्रकट हुए है। श्री जम्बूस्वामी जिज्ञासु थे, उनमे ज्ञान की तृष्णा ठीक वैसी ही प्रबल थी जैसी आज अधिकाश व्यक्तियों मे सम्पत्ति की तृष्णा पाई जाती है।

तृष्णा मनुष्य को बेचैन कर देती है—जीवन को अशान्त बना देती है। हिन्दी के महाकवि केशव ने अपने काव्य मे तृष्णा

को काली रात के समान बताया है कि जैसे काली रात मे आँख वाले भी कुछ देख नहीं पाते उसी प्रकार तृष्णा वाले को आत्म कल्याण नहीं सूझता। धैर्यशाली भी तृष्णा के फंदे मे पड कर धै छोड़ बैठते है। कवि के शब्द ये है —

" औदिन आछत आंधरो, जीव करे बहुभांति।
धीरन धीरज बिन करे, तृष्णा कृष्णा राति॥"
—रामचन्द्रिका

इसी लिए महापुरुषो ने तृष्णा को त्याज्य बताया है। अः सवाल खडा होता है कि धन की तृष्णा से मनुष्य जिस प्रका बेचैन होता है, उसी प्रकार ज्ञान की तृष्णा से भी होता है, त ज्ञान की तृष्णा को भी धन की तृष्णा के समान त्याज्य क्यों माना जाय ?

इसके उत्तर मे कहना है कि धन की तृष्णा मे जिस प्रका मनुष्य पागल होकर विवेक खो बैठता है, वैसा ज्ञान की तृष्णा नहीं होता। ज्ञान की तृष्णा में तो उल्टा विवेक बढता है। वह विवेक खोने की तो बात ही नहीं उठती। इसीलिए ज्ञान की तृष्ण उपादेय मानी गई है। कवियो, विचारको और धर्माचार्यों ने सांसा रिक भोगविलास के साधनो को प्राप्त करने की तृष्णा को ही त्याज माना है, ज्ञान की तृष्णा को नहीं।

"णाया धम्मकहा" सूत्र के सात अध्ययन सुनने के बा आठवे अध्ययन मे भगवान् महावीर ने क्या बताया है ? यह पूछने पर अपने सुशिष्य जम्बू स्वामी को आचार्य सुधर्मा स्वामी ने इस प्रकार कहा.—

"एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं........"

हे जम्बू ! उस काल और उस समय मे इसी जम्बूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र में मन्दर पर्वत की पश्चिम दिशा मे निषध नामक वर्षधर पर्वत के उत्तर मे जो शीतोदा नामक महानदी है, उसकी दाहिनी दिशा मे सुखकारी मनोहर वक्खार पर्वत के पीछे और पश्चिम लवण समुद्र के आगे (अर्थात् वक्खार पर्वत और पश्चिम लवण-समुद्र के बीच में) जो एक सलिलावती नामक चक्रवर्ती-विजय है, उसी में वीतशोका नामक राजधानी बताई गई है। वह नौ योजन चौडी और बारह योजन लम्बी थी ! रमणीय तो इतनी अधिक थी कि उसे देखने वालों को ऐसा लगता था, मानो वे अपनी आँखों से देवलोक (स्वर्ग) ही देख रहे हैं।

नन्दनवन के समान ही "इन्द्रकुम्भ" नामक एक रमणीय बगीचा वीतशोका राजधानी के बाहर ईशानकोण में था। पुराने जमाने मे हर गाँव और हर नगर के बाहर छोटे-बड़े बगीचे बनाने का रिवाज ही था। ये बगीचे सार्वजनिक होते थे, कोई भी नागरिक बेरोकटोक इनमें घूम-फिर कर अपना दिल बहला सकता था। पशु-पक्षी भी वहाँ विश्राम करते थे। साधु-संत भी वहाँ उतरते थे; क्योंकि एकान्त स्थल होने से चिन्तन-मनन का उन्हे अच्छा अवसर मिल जाता था। बगीचों की सुगन्धित वायु नगरों मे भी फैल कर वहा के दूषित वातावरण को स्वच्छ बना देती थी ! इस प्रकार सभी दृष्टियों से विचार करने पर बगीचों का बस्ती के निकट होना

उस राजधानी मे बल नामक राजा राज्य करते थे। यहाँ 'राजा' शब्द को भी जरा समझ लिया जाय। जो अपनी राह जाता है=नीतिमार्ग पर चलता है, वह राजा है। संस्कृत के अनुसार "राजते शोभते यः स राजा" अर्थात् जो सुशोभित होता है=सुन्दर और दर्शनीय मालूम होता है, वही राजा है। सज्जनो! याद रखिये, जो दुर्जन है, क्रूर है, प्रजा को सताता है—ऐसा राजा कभी प्रजा को सुन्दर या दर्शनीय नहीं मालूम हो सकता। इसके विपरीत जो पुत्र के समान प्रेम से अपने कर्त्तव्य का पालन करता है, शांत है, दयालु है, उदार है, वही प्रजा को सुन्दर और दर्शनीय मालूम होता है। इससे कल्पना की जा सकती है कि जो राजा "राजा" कहलाना चाहता है, उसमे कितने गुणो की जरूरत है! यह बात समझ लेने पर आप यह भी समझ ही गये होंगे कि वीतशोका नगरी के शासक बल महाराज कैसे थे?

तो ऐसे उन बल महाराज के अन्तःपुर (रनिवास) मे धारिणी देवी आदि एक हजार रानियाँ थी। इस विशाल अन्तःपुर के साथ भोगविलास करते हुए महाराज बल प्रेम और न्याय से प्रजा का पालन करते थे।

१-युवराज महाबल

श्री "णाया धम्मकहा" सूत्र के आठवें अध्ययन का वर्णन करते हुए आचार्य सुधर्मा-स्वामी अपने सुशिष्य जम्बू स्वामी को बता रहे हैं कि वीतशोका राजधानी के सुशासक महाराज बल, धारिणी देवी प्रमुख अपने विशाल अन्तःपुर के साथ सानन्द रहा करते थे।

"तए णं सा धारिणी देवी अन्नया कयाइं सीहं सुमिणे पासित्ता पडिवुद्धा०... ..."

महारानी धारिणी देवी ने अपनी सेज में सोते हुए एक बार पिछली रात में "सिंह" को स्वप्न मे देखा और देखते ही उठ बैठी। स्वप्न शुभ था, इसलिए ऐसे स्वप्न से उसे अनुमान हो गया कि अवश्य कोई सिंह के समान तेजस्वी जीव मेरी कुक्षि से पुत्र-रूप मे उत्पन्न होगा। इससे उसे काफी प्रसन्नता हो रही थी।

आज यदि कोई स्त्री स्वप्न मे सिंह देख ले तो उसे प्रसन्नता के स्थान पर घबराहट होने की ही अधिक सम्भावना है। सत्संग के अभाव मे होने वाले अज्ञान का यह परिणाम है। जो स्त्रियाँ पढी-लिखी हैं, सन्तों और महासतियों की जीवनियाँ अथवा अन्य धार्मिक-साहित्य का नित्य वाचन करती रहती हैं, चातुर्मास में या अन्य काल मे, अपने नगर में या अन्यत्र पधारे हुए सन्तों या साध्वियो के प्रवचनों को ध्यान मे सुनती हैं, वे जानती हैं कि शुभ-स्वप्न कौन-से हैं? और इसीलिए "सिंह" जैसे किसी स्वप्न को दे–

मित्रता के लिए दूध और पानी का दृष्टान्त भी काफी अच्छा है। दूध से मित्रता करके पानी भी दूध जैसा ही दिखाई देने लगता है, दूध में मिलने पर पानी का मूल्य बढ़ जाता है, वह भी दूध के ही भाव बिकने लगता है। सुदामा कितना गरीब था ? किन्तु कृष्ण से मित्रता होने के कारण कृष्ण ने उसे अपने समान बना लिया था। मित्रता के आदर्शों का स्मरण करते हुए कृष्ण के साथ सुदामा का नाम भी सहसा याद आ जाता है।

जब पानी से मिला हुआ दूध चूल्हे पर चढाया जाता है, तब पहले के उपकार को याद करके पानी सोचता है कि "मैं भले ही जल जाऊँ, पर अपने मित्र (दूध) पर आँच न आने दूंगा।" और इसीलिए दूध के पहले वह स्वयं जलने लगता है। सच्चे मित्र ऐसे ही होते हैं, वे अपनी पर्वाह न करके मित्र की रक्षा के लिए आई हुई आपत्ति को स्वयं झेल लेते हैं। किन्तु आगे जब दूध अपने लिए अपने मित्र (पानी) को पहले जलते हुए देखता है, तब उससे भी रहा नहीं जाता। वह सोचता है, "मेरे मित्र को जलाने वाली आग को जीवित रहने देना ठीक नहीं।" इसलिए वह आग को बुझाने के लिए वर्त्तन में से उफन-उफन कर आग पर कूदने लगता है। इस बीच यदि किसी ने उस वर्त्तन मे थोडा पानी डाल दिया, तो फिर वह यह सोच कर शान्त हो जाता है कि "मुझे अपना प्यारा मित्र फिर मिल गया।"

कहने का आशय यह है कि वे सातों मित्र ऐसे ही थे, अपनी पर्वाह न करके सभी दूसरो की भलाई ही सोचते रहते थे।

धीरे-धीरे महाबलकुमार बालक से किशोर हुए और किशोर से युवक। अपने पुत्र को यौवनावस्था से सम्पन्न जान कर माता-पिता ने कमलश्री प्रमुख ५०० राजकन्याओं के साथ एक ही दिन मे पाणिग्रहण कराया।

अब महाबलकुमार अपनी नव-विवाहिता ५०० पत्नियों के ाथ भोग-विलास करते हुए सानन्द रहने लगे। समय-समय पर । अपने पिता के कार्यों को भी ध्यानपूर्वक देखते और समझने का यत्न करते रहते थे। इस से शीघ्र ही उन्हे शासन करने की नीति ा ज्ञान हो गया। यह देख कर महाराज बल ने उन्हे युवराज पद े विभूपित कर दिया और राजकाज से निश्चिन्त होकर शान्ति से ंयम-पूर्वक अपने आयुष्य का शेप समय व्यतीत करने लगे।

३-धर्मघोष मुनि का पदार्पण

सज्जनो !

आचार्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी को बत रहे हैं कि महाबलकुमार को युवराज बनाकर महाराज बल अप आयु के बचे हुए दिन शान्तिपूर्वक व्यतीत कर रहे थे।

"तेणं कालेणं तेणं समएणं धम्मघोसणामं थेरा पंचहि अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्वि चरेमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे, सुहं सुहेणं विहरमाणे, जेणेव इंदकुंभे णामं उज्जाणे तेणेव समोसढे.. ...॥"

उस काल और उसी समय में धर्मघोष नामक स्थविर मुनि अपने ५०० शिष्यों के साथ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए इन्द्रकुम्भ उद्यान मे पधारे।

धर्मघोष मुनि अपने नाम के अनुसार ही धर्म की घोषणा कर के "यथा नाम तथा गुण" इस सूक्ति या लोकोक्ति को चरितार्थ करते रहते थे। धर्म का उपदेश करना मुनि का काम है, पर वह यह काम एक जगह रह कर भी कर सकता है, इसके लिए उसे विहार करने और एक गाँव से दूसरे गाँव जाने की क्या जरूरत ! इस सवाल के जवाब में हम एक सवाल करेंगे कि सूर्य जहाँ रहता है, वहीं प्रकाश फैलाता है, प्रकाश फैलाना उसका काम है, पर इस काम के लिए उसे इधर से उधर भटकने की क्या जरूरत !

इस सवाल के जवाब में जो कुछ कहा जायगा, वही पहले सवाल का जवाब होगा। जैसे सूर्योदय होने पर सज्जन निद्रा छोड़ कर पुण्यप्रवृत्ति में लग जाते हैं और चोर आदि अपनी पापवृत्ति से निवृत्त होने लगते हैं, वैसे ही धर्म का प्रकाश फैलाने वाले मुनि के उपदेशों के प्रभाव से भी सज्जन सत्कार्य में ज्यादह से ज्यादह लगने की कोशिश करते हैं तथा पापी अपने पापों को छोड़ने की कोशिश करने लगते है।

सूर्योदय न हो तो लोक मे अन्धेरा ही रहेगा, हटेगा नहीं! इसी प्रकार सन्तसमागम के अभाव में अज्ञान रहेगा और अज्ञान से ही तो मनुष्य दुःखी होता है। अज्ञान के कारण ही मनुष्य सांसारिक सुखो में आसक्त होता है, डरता है, न मिलने पर क्रोध करता है, पाने के लिए छीनाझपटी करता है—इस प्रकार उसकी बुद्धि डॉवाडोल रहती है. इसीलिए दुःख भोगता है! किन्तु मुनि वैसा नहीं होता। श्रीमद्भगवद्गीता मे मुनि का लक्षण इन शब्दों में बताया गया है:—

"वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥"

अर्थात्—अनासक्त, निर्भय, शान्त, और स्थिर बुद्धि वाले ही 'मुनि' कहे जाते है। जो ऐसा है, वही ज्ञानी है। जो ज्ञानी है, वही सुखी है।

कहने का आशय यही है कि दुःखो से बचने के लिए ज्ञान की जरूरत है और ज्ञान के लिए गुरु की, सन्त की, निर्ग्रन्थ की। कुशल से कुशल तैराक भी भुजाओं के बल से समुद्र पार नहीं कर सकता। पार करने के लिए उसे नौका की ज़रूरत रहती है। नौका की सहायता से जिसे तैरना नहीं आता, वह भी समुद्र से पार पहुँच जाता है! नौका स्वयं तो पार पहुँचती ही है। सन्त भी ऐसे

३-धर्मघोष मुनि का पदार्पण

सज्जनो !

आचार्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी को बता रहे हैं कि महाबलकुमार को युवराज बनाकर महाराज बल अपनी आयु के बचे हुए दिन शान्तिपूर्वक व्यतीत कर रहे थे।

"तेणं कालेणं तेणं समएणं धम्मघोसणामं थेरा पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्वि चरेमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे, सुहं सुहेणं विहरमाणे, जेणेव इंदकुंभे णामं उज्जाणे तेणेव समोसढे.. ...॥"

उस काल और उसी समय में धर्मघोष नामक स्थविर मुनि अपने ५०० शिष्यो के साथ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए इन्द्रकुम्भ उद्यान मे पधारे।

धर्मघोष मुनि अपने नाम के अनुसार ही धर्म की घोषणा कर के "यथा नाम तथा गुणा." इस सूक्ति या लोकोक्ति को चरितार्थ करते रहते थे। धर्म का उपदेश करना मुनि का काम है, पर वह यह काम एक जगह रह कर भी कर सकता है, इसके लिए उसे विहार करने और एक गाँव से दूसरे गाँव जाने की क्या जरूरत ! इस सवाल के जवाब में हम एक सवाल करेंगे कि सूर्य जहाँ रहता है, वहीं प्रकाश फैलाता है, प्रकाश फैलाना उसका काम है, इस काम के लिए उसे इधर से उधर भटकने की क्या जरूरत !

इस सवाल के जवाब में जो कुछ कहा जायगा, वही पहले सवाल का जवाब होगा। जैसे सूर्योदय होने पर सज्जन निद्रा छोड़ कर पुण्यप्रवृत्ति में लग जाते हैं और चोर आदि अपनी पापवृत्ति से निवृत्त होने लगते हैं, वैसे ही धर्म का प्रकाश फैलाने वाले मुनि के उपदेशों के प्रभाव से भी सज्जन सत्कार्य में ज्यादह से ज्यादह लगने की कोशिश करते हैं तथा पापी अपने पापों को छोड़ने की कोशिश करने लगते हैं।

सूर्योदय न हो तो लोक मे अन्धेरा ही रहेगा, हटेगा नहीं! इसी प्रकार सन्तसमागम के अभाव में अज्ञान रहेगा और अज्ञान से ही तो मनुष्य दु:खी होता है। अज्ञान के कारण ही मनुष्य सासारिक सुखों में आसक्त होता है, डरता है, न मिलने पर क्रोध करता है, पाने के लिए छीनाझपटी करता है—इस प्रकार उसकी बुद्धि डॉवाडोल रहती है इसीलिए दु:ख भोगता है! किन्तु मुनि वैसा नहीं होता। श्रीमद्भगवद्गीता मे मुनि का लक्षण इन शब्दों में बताया गया है:—

"वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥"

अर्थात्—अनासक्त, निर्भय, शान्त, और स्थिर बुद्धि वाले ही 'मुनि' कहे जाते हैं। जो ऐसा है, वही ज्ञानी है। जो ज्ञानी है, वही सुखी है।

कहने का आशय यही है कि दु:खों से बचने के लिए ज्ञान की जरूरत है और ज्ञान के लिए गुरु की, सन्त की, निर्ग्रन्थ की। कुशल से कुशल तैराक भी भुजाओं के बल से समुद्र पार नहीं कर सकता। पार करने के लिए उसे नौका की ज़रूरत रहती है। नौका की सहायता से जिसे तैरना नहीं आता, वह भी समुद्र से पार पहुँच जाता है! नौका स्वयं तो पार पहुँचती ही है। सन्त भी ऐसे

ही हैं, वे स्वयं पार पहुँचते है, दूसरों को भी पहुँचाते है। इसीलिए कहा गया है—

"तिन्नाणं तारयाणं, बुद्धाणं बोहियाणं"

कविवर मुनि श्री अमरचन्द्रजी म० सा० की कुछ पंक्तियाँ इस विषय में देखिये—

"जगत् के तारने वाले, जगत् में सन्त जन ही हैं।
उन्हें उपमा कहो क्या दें? अपन से वे अपन ही हैं॥"

सन्तों की समभावी मनोवृत्ति का वर्णन करते हुए इसी कविता मे आगे कहा गया है:—

"कुल्हाडी से कोई काटे, कोई आ फूल बरसावे।
खुशी से दें दुआ यकसाँ, अजब सारे चलन ही हैं॥"

यहाँ एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए, कि जिस नौका में किसी भी प्रकार छेद पड गया हो, वह जिस प्रकार धीरे-धीरे स्वयं ही डूब जाती है, उसी प्रकार जो मुनि निर्दोष न हो, शुद्ध न हो, संयमी न हो, वह स्वयं भी सच्छिद्र नौका के समान ससार में ही डूबा रहता है, दूसरों को तो पार ले जायगा ही क्या? इसलिए नाव में बैठने के पहले जैसे हम भलीभाति जाच कर लेते हैं कि नौका में कहीं छिद्र तो नहीं है? उसी प्रकार अवलम्बन लेने से पहले जान लेना चाहिए कि गुरु निर्दोष तो है? इस आशय की एक कहावत बहुत प्रसिद्ध है —

" पानी पीजे छान कर। गुरु कीजे जान कर॥ "

क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दोष हैं, साधु के ये दोष शान्त होने से ही उन्हे "सन्त" (शान्त शब्द का अपभ्रंश) कहा

जाता है। दूसरे शब्दो मे कषायो का अन्त करने का जिनमे सामर्थ्य होता है, वे ही सन्त हैं। साधु को मराठी के सहा + धू (छह को धोने वाले अर्थात् काम क्रोध, लोभ मोह, मद और मत्सर इन छह दोषों को दूर हटाने वाले) का संक्षिप्त रूप भी समझ सकते है। उर्दू के फकीर शब्द का भी इसी प्रकार मिलता-जुलता अर्थ निकलता है। जो फिक्र अर्थात् चिन्ता नही करता ! निश्चिन्त है, वही फकीर है। संस्कृत भाषा की दृष्टि से साधु का लक्षण यह है.—

" साध्नोति स्वपरकार्याणीति साधुः "

अर्थात् जो अपना और दूसरो का भला हो—ऐसे कार्यों को सिद्ध करता है, वही 'साधु' है।

सज्जनो ! शब्दो के अर्थ तो हर तरह अच्छे ही होते हैं, किन्तु ये अर्थ जिनके जीवन मे उतरें वे ही मुनि, साधु, श्रमण, निर्ग्रन्थ या अनगार है ।

इस प्रसंग पर एक बात का और खुलासा कर देना जरूरी समझ रहा हूँ। आज-कल अपने आपको सुधारक समझने वाले कुछ लोग यह तर्क पेश करते हैं कि "जिस समय जनसंख्या कम थी, अनाज काफी पैदा होता था और खूब सस्ता था, उस समय समाज की ओर से साधुओ, फकीरो और भिखारियो को विना काम किये भी पेट भरने की सुविधा थी ! किन्तु आज ज़माना वदल गया है, जनसंख्या बढ गई है, अनाज का उत्पादन घट गया है, मंहगाई बढती जा रही है—ऐसी हालत मे इन निकम्मे सन्तों-सन्यासियों का भार क्यो सहा जाय ? इन्हे पेट भरना है, तो श्रम करें और भरे, समाज पर व्यर्थ का बोझ न डाले। समाज भी कैसी अन्ध श्रद्धालु है कि आँख वन्द किए चुपचाप इन निकम्मे सन्तों के पेट में डाल कर प्रतिवर्ष हजारों मन अनाज विगड़ने दे रही है ? दोनों भूल कर रहे हैं !"

सज्जनो ! सुना आपने ? सुधारक ही सुधार पर है, बाकी आप लोग भी भूल पर है और हम लोग भी भूल पर है ! धन्य है, उनकी बुद्धि को।

अब उनके इस तर्क मे कितना तथ्य है—इस पर थोड़ा विचार करे। कुटुम्ब मे बहुत-सी गौएं बूढी होने पर दूध देना बन्द कर देती हैं पर घास खाना बन्द नहीं करती। बहुत-से बच्चों और बच्चियो को भी खिलाया-पिलाया जाता है, चूंकि वे कुछ कमाना जानते नहीं, कमाते नहीं, सिर्फ खेलते और सो जाते है, बहुत हुआ तो स्कूल मे जाकर कुछ पढ़ आते है, पर खाना-पीना मात्र चालू रहता है ! घर मे बहुत-सी बुढ़ियाँ भी बिना कोई काम किये खाती-पीती रहती है। सुधारको के कुटुम्ब भी इन बातो के अपवाद नही होते। फिर अपने घर मे ही उस तर्क का प्रयोग क्यों नहीं करते कि ये बूढी गौएं निकम्मी है, इन्हे घास क्यो डाला जाय ? ये छोटे-छोटे बच्चे निकम्मे है, ये बुढ़ियाँ निकम्मी है—इन्हे खिला पिला कर प्रतिवर्ष देश का लाखों मन अनाज क्यो बिगाड़ा जाय ?

इस प्रकार उन सुधारकों का यह तर्क खुद उनके घर में भी नहीं लागू होता और चले है—साधु-संतों की और समाज की चिकित्सा करने ! अस्तु।

आज के प्रवचन में प्रारम्भ से ही संतो की महत्ता पर कहा जा रहा है। यद्यपि दुनियादारी की दृष्टि से वे कोई श्रम नही करते, पर इन्द्रियों को और मन को वश में करने की, क्रोधादि के आवेगों को शांत रखने की जो वे साधना करते है, उसका महत्त्व कम नही है। संसार मे दो ही प्रकार के दुःख होते है—कुछ शारीरिक होते है और कुछ मानसिक। शारीरिक दुःखों का इलाज करते हैं—डॉक्टर और वैद्य, किन्तु मानसिक दु.खों का इलाज सन्त-जन ही कर सकते है। स्वार्थ की प्रचण्ड अग्नि मे झुलसने वाले समाज को क्रोध,

मान, माया, लोभ आदि के चक्कर से बचने का सही उपाय बता कर ये सन्त-जन काफी उपकार करते हैं। इसलिए इन्हें निकम्मे समझना ठीक नहीं। सर्वस्व का त्याग करके, कुटुम्ब-परिवार को छोड कर, धन-दौलत और मान-सन्मान को लात मार कर घर से निकल पड़ना कोई साधारण बात नहीं है। घर छोड़ने पर इनका सारा जीवन परोपकार मे ही व्यतीत होता है। सस्कृत मे यह सूक्ति बहुत प्रसिद्ध है —

"परोपकाराय सतां विभूतयः ॥"

हिन्दी के एक कवि कहते हैं कि सन्त-जन परोपकार के ही लिए अपने शरीर को टिकाये रखते हैं। कवि के शब्द ये हैं.—

" सरवर तरुवर सन्तजन, चौथा काला मेह।
पर-हित करने के लिए, चारो रखते देह ॥ "

सरोवर, वृक्ष, काला मेघ और सन्त इन चारों ने परोपकार करने ही के लिए देह धारण कर रक्खी है।

हाँ, तो उस इन्द्रकुम्भ उद्यान में ऐसे ही ५०० साधुओं के साथ आचार्य धर्मघोष मुनि का समवसरण (शुभागमन) हुआ, तब से प्रतिदिन धर्मप्रवचन होने लगे।

सुधारक महोदय के कहने के अनुसार आज जमाना बदला है, तो इधर सन्तो की संख्या भी काफी घट गई है। आजकल ४-५ या अधिक से अधिक हुए तो १०-१५ मुनि ही एक साथ विचरते हैं। किन्तु उस जमाने मे ५०० मुनि एक साथ विचरते थे—ऐसा शास्त्र के पाठ से मालूम होता है। कितना अन्तर हो गया है ? उस समय ५०० साधुओं के एक साथ रहने पर भी किसी को कुछ भार का अनुभव नहीं होता था। जनता उनका प्रवचन सुनने जाती थी और मानसिक सन्तोष पाती थी।
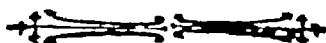
४-वैराग्य और दीक्षा

प्रिय सज्जनो !

श्री "णाया धम्मकहा" सूत्र के आठवे अध्ययन का सार बताते हुए आचार्य सुधर्मा स्वामी अपने सुशिष्य जम्बू स्वामी को बता रहे हैं कि वीतशोका राजधानी के इन्द्रकुम्भ उद्यान मे पधारे हुए धर्मघोषाचार्य के प्रतिदिन प्रवचन होने लगे थे। उधर वही के सुशासक महाराज बल शान्ति से अपनी आयुष्य के शेप दिन बिता रहे थे।

एक दिन जब उन्होंने धर्मघोषाचार्य के पधारने की बात सुनी तो वे भी अपने इष्ट-मित्रों और राजदरबारियो के साथ दर्शन और प्रवचन का लाभ लेने के लिए महलो से निकले और जहाँ इन्द्रकुम्भ उद्यान था, वहीं आ पहुँचे। उधर धर्मघोषाचार्य का प्रवचन चल रहा था, इसलिए वन्दन करके महाराज यथास्थल बैठ कर ध्यान से प्रवचन सुनने लगे।

प्रवचन मे वैराग्यरस की बौछार हो रही थी। कहा जा रहा था कि —

"ससार मे सारी वस्तुएँ नश्वर हैं। इसलिए विषयभोग भी नश्वर हैं। यह निश्चित् है कि या तो हम एक दिन उन्हे छोड कर चले जायँगे या वे हमारे सामने ही नष्ट हो जायँगे।"

"संयोगा विप्रयोगान्ताः, मरणान्तं हि जीवितम्।"

जितने भी सयोग हैं, उनका अन्त में वियोग होगा और जितने भी जीवधारी हैं, उन सबके लिए मौत अनिवार्य है। जो

जन्म लेता है, उसे अवश्य मरना पडता है। ये विषयभोग जन्म-मृत्यु के चक्कर से हमे नहीं बचा सकते। इसलिए विषयभोग हमे छोडें, उसके पहले हमे ही उन्हे छोड कर चल देना चाहिए। मरते समय जीव के साथ ऋद्धि, समृद्धि, कुटुम्ब, मित्र आदि कोई नहीं चलता, उसे अकेला ही आँखें मूँद कर खाली हाथ निकलना पड़ता है। मोह के कारण जिन्हें हम अपने समझते हैं, वास्तव मे वे हमारे नहीं होते। जैसा कि एक सस्कृत कवि ने कहा है:—

"चेतोहरा युवतयः स्वजनोऽनुकूलः,
सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः।
वल्गन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः,
सम्मीलने नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति ॥"

अर्थात् ये मनोहर युवतियाँ हैं, ये आज्ञाकारी कुटुम्बीजन हैं, ये बन्धुगण भी अच्छे स्वभाव वाले हैं, ये नौकर चाकर भी विनय-पूर्ण मीठी वाणी बोलने वाले हैं, ये चिघाडने वाले हाथियो के झुण्ड हैं, ये चचल घोडे हैं—ये सब मेरे हैं। इनसे मैं कितना सुखी हूँ—ऐसा कोई राजा अपने मन मे समझता है, किन्तु—

" सम्मीलने नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति ॥ "

आँखें बन्द होने पर, मरने पर उसका कुछ नहीं है। इसलिए आत्म-शान्ति के लिए, स्थायी सुख के लिए भव्य जीवों को प्रमाद छोड कर सदा धर्माचरण मे लगना चाहिए।......इत्यादि।

इस प्रवचन का महाराज बल पर गहरा असर हुआ और वे महाबलकुमार को राजगद्दी सौंप कर अनगार बन गये। धर्मघोषाचार्य के साथ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए बल अनगार ने क्रमश ग्यारह अंगसूत्रों का अध्ययन किया और अनेक वर्षों तक

महारानी कमलश्री जागृत हुई। इस स्वप्न की सूचना के अनुसार ही नौ मास पूर्ण होने पर कमलश्री को एक महा तेजस्वी पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। नाम "वलभद्र" रक्खा गया।

खेलते-कूदते, पढ़ते-लिखते धीरे-धीरे वलभद्रकुमार भी जवान हो गये और राजकाज सम्हालने मे दक्ष हो गये। यह देख कर महा-वल ने वलभद्र को युवराज पद पर स्थापित किया और स्वयं उस ओर से निवृत्त होकर अपने छहों बाल-मित्रों के साथ सानन्द रहने लगे।

उधर धर्मघोपाचार्य ग्रामानुग्राम विहार करते हुए कई वर्षों बाद फिर उसी वीतशोका राजधानी की तरफ आये और उसी "इन्द्रकुम्भ" उद्यान मे ठहर गये। पहले ही के समान फिर प्रतिदिन धर्मप्रवचन होने लगे।

आजकल प्रायः देखा जाता है कि मनुष्यो को अपने जीविका के कार्य से जरा भी निवृत्ति मिली की बस, चले घूमने, लगे ताश या चौपड खेलने, गये सिनेमा या नाटक देखने, बैठे गपशप लड़ाने या एक-दूसरे की निन्दा करने! यह सब अविवेक का परिणाम है। एक पाश्चात्य-विचारक का कहना है:—

"जिन्दगी चाहे कितनी भी छोटी हो, समय की वर्बादी से वह और भी छोटी बना दी जाती है।"

यह एकदम सच्ची बात है। भगवान् महावीर तो बार-बार अपने शिष्यों से यही कहते हैं —

"समयं गोयम! मा पमायए।"

हे साधक! तू एक क्षण को भी आलस्य मे वर्बाद मत होने दे। किन्तु अविवेकी मनुष्यों का ध्यान इस ओर नहीं जाता! वे

किसी प्रकार का डर नहीं है। इसलिए विवेकी मुनि भयभीत करने वाली ससार की सारी वस्तुओ का त्याग करके वैराग्यभावो में लीन हो कर निश्चिन्त और निर्भय हो जाते हैं। सच्चे सुख का यही मार्ग है, इसलिए भव्यजीवों को प्रमाद छोड कर धर्माचरण में लगना चाहिए। जीवन अस्थायी है"..... इत्यादि।

अपने पिताजी ने जब से दीक्षा ले ली थी, तभी से महाबल के हृदय में भी वैराग्य का अङ्कुर पैदा हो गया था, किन्तु इस प्रवचन के सुनने पर तो उसे ऐसा सिञ्चन मिला कि वह एकदम बढ़ कर वृक्ष बन गया। उन्होने निश्चय कर लिया कि मुझे ससार अब छोड़ देना है, किन्तु अपने मित्रो की राय जानने के लिए वे अपनी भावना को मन मे ही दबा कर महलों मे लौट आये।

मन मे वैराग्य के विचार काफी प्रबलता से उठ रहे थे, इसलिए तुरन्त अपने मित्रो को बुला कर उन्होंने कहा.—

"मित्रो! ससार छोड कर मुझे अब दीक्षा लेने की इच्छा है।"

यह सुन कर उन छहों मित्रो ने महाबल से कहा:—

"जइ णं देवाणुप्पिया! तुब्भे पव्वयह, अम्हे के अन्ने आहारे वा जाव पव्वयामो॥"

अर्थात् हे देवानुप्रिय! "यदि आप दीक्षा लेंगे तो फिर हमारा दूसरा कौन आधार रहेगा? इसलिए हम भी आपके साथ ही दीक्षा लेंगे।"

यह सुन कर महाबल को प्रसन्नता हुई। उन्होने मित्रों से कहा —

"जइ णं देवाणुप्पिया! तुब्भे मए सद्धिं जाव पव्वयह तो णं........॥"

अर्थात् मित्रो ! यदि तुम सब मेरे साथ प्रव्रज्या लेना चाहते हो तो अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्रो को राज्य सौंप कर पुरुषसहस्रवाहिनी शिविकाओ (पालखियो) मे बैठ कर यहाँ चले आओ ।"

यह सुन कर मित्र अपने-अपने राज्यो को लौट गये । वहाँ अपने-अपने पुत्रो को राज्य सौप कर बड़ी-बडी पालखियो मे बैठ कर दीक्षा की पूरी तैयारी के साथ पुन. महाराज महाबल के पास लौट आये ।

उधर महाबल भी बलभद्रकुमार का राज्याभिषेक-महोत्सव करके दीक्षा के लिए, आत्म-साधना के लिए पूरी तरह से तैयार हो गये थे ।

५-त्याग और विनय
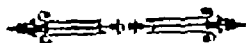
आचार्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी को बता रहे है कि वीतशोका राजधानी के बाहर "इन्द्रकुम्भ" उद्यान मे पधारे हुए आचार्य धर्मघोष के प्रवचनों से प्रभावित होकर महाराज महाबल तथा उनके छहों मित्र दीक्षा की तैयारी कर चुके थे।

"तए णं से महब्बले राया बलभद्दं कुमारं आपुच्छइ ॥"

अर्थात् फिर महाराज महाबल ने अपने पुत्र बलभद्रकुमार से पूछा.—

"कुमार! मैं राज्य का त्याग करके अनगार होना चाहता हू, तुम्हारी इसके लिए क्या राय है?"

अपने पिता के वियोग की सम्भावना से बलभद्रकुमार काफी चिन्तित थे। इसलिए वे पिता को अनगार होने की राय कैसे दे सकते थे? बोले.—

"आप महलो में शांतिपूर्वक अपनी आत्मसाधना कीजिए। आपके दर्शनो से और आशीर्वाद से शासनकार्य के सञ्चालन मे मुझे काफी उत्साह रहेगा। आप को यहाँ कौन-सा कष्ट है? क्या कमी है?"

यह सुन कर महाबल ने विस्तार से इस प्रकार समझाया.—

"भोगों का त्याग किये बिना शाति नहीं मिल सकती। कोई कितना भी अधिक भोग भोगे, उसे तृप्ति न होगी। जैसा कि कहा जाता है —

अर्थात् त्याग से ही कैवल्य प्राप्त हो सकता है। महाभारत के बारहवें पर्व मे तो त्याग को ही सुख बताया गया है.—

"नास्ति त्यागसमं सुखम्"

दिन भर दौड धूप करने पर रात को शय्या मे लेटते समय हमें शान्ति का अनुभव होता है। असल मे यह लेटने का सुख नहीं है, बीमार भी महीनो तक लेटे रहते है, पर उन्हे सुख कहाँ ? इसलिए समझना चाहिए कि लेटते समय होने वाला सुख दिन भर की दौड धूप को त्यागने के कारण ही होता है। गीता मे भी इसीलिए कहा गया है—

"त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्"

अर्थात् त्याग के बाद ही शान्ति मिलती है। महलो मे रहने पर वैसी शान्ति नहीं मिल सकती। इसलिए महलो का त्याग करके हम दीक्षित होना चाहते है।

अपने पिता की उपर्युक्त बाते विस्तार से सुन कर बलभद्र कुमार कुछ न बोल सके। फिर "मौनं सम्मतिलक्षणम्" समझ कर सातो मित्र "इन्द्रकुम्भ" उद्यान मे आचार्य के समीप आये यथाविधि प्रणाम करके स्वय ही पचमुष्टिक लोच (केशलुञ्चन) करके सातों मित्र अनगार बन गये।

अनगार बनने पर आचार्य धर्मघोष की सेवा विनयपूर्वक करने लगे। उन्हें ज्ञान प्राप्त करना था, किन्तु ज्ञान के लिए विनय बहुत आवश्यक माना गया है। पानी प्राप्त करने के लिए पनिहारी को घडा झुकाना पडता है, खुद उसे भी झुकना पडता है। नदी किनारे पहुच कर घडा हाथ में लेकर सीधी खडी रहने पर उसे पानी नहीं मिल सकेगा। प्राचीन काल में बने हुए विशाल मन्दिरों

के दरवाजे काफी छोटे अर्थात कम ऊँचे रक्खे जाने का आशय भी यही था कि जिसमे प्रवेश करने वालो का मस्तक प्रवेश करते समय ही झुक जाय। सूत्रों मे स्थान-स्थान पर—

" तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेइत्ता वंदइ णमंसइ ... "

यह पाठ आया है जो बताता है कि गुरुदेव का विनय कितना जरूरी है ?

"राजन् ! आप चोर हैं।" राजा को यह सुन कर क्रोध नहीं आया, पर विचार आया कि "मुझे चोर कहने का साहस करने वाला व्यक्ति कोई साधारण नहीं हो सकता ! किन्तु मैंने कोई चोरी की हो—ऐसा मुझे स्मरण नहीं आता, इसलिए पूछूँ तो सही कि मुझ से कौन-सी चोरी हुई है ? मेरी कौन-सी चोरी इन्होंने पकडी है ?" फलस्वरूप राजा ने पूछा-"महात्मन् ! बताइये मुझ से कौन-सी चोरी हुई है ?" यह सुन कर आचार्य ने कहा कि "यदि आपके नगर में कोई व्यापारी कर (टैक्स्) चुकाये बिना ही व्यापार करने लगे तो जैसे वह आपको 'चोर' मालूम होता है, उसी प्रकार ज्ञान का कर विनय है, इसलिए विनय किये बिना ज्ञान चाहने वाले आप भी चोर हैं।"

यह सुन कर राजा को अपनी भूल का भान हुआ उसने विनय करके अपनी सारी शंकाओं का निवारण किया और आत्मवादी बन गया।

संक्षेप मे इस अन्तर्कथा को सुनाने से मेरा आशय यही है कि विनय का महत्त्व ठीक रूप में समझ लिया जाय। ज्ञान के लिए विनय नितान्त जरूरी है ! यह बात वे सातो अनगार भली भांति समझते थे, इसलिए खूब विनय-पूर्वक सेवा कर के आचार्य से ११ अंगों का अध्ययन कर लिया।

सत्कार्य दूध के समान है-मीठा है, पर उसमें ज़रा-सी भी माया की या अहकार की खटाई पड़ जाय तो सारा दूध खट्टा हो जायगा, मीठा न रहेगा। यह दृष्टान्त इसलिए दिया गया है कि अहकार की जागृति होने पर तपस्या जैसे सत्कार्य में लगे हुए महाबल की सरलता माया के प्रभाव से नष्ट होगई और इसी से स्त्री नाम कर्म गोत्र का उपार्जन हो जाने से अगले तीसरे भव में उन्हें स्त्री रूप मे जन्म लेना पड़ा। यह सब कैसे हुआ सो संक्षेप मे यहाँ बताया जाता है —

"तए ण से महब्बले अणगारे इमेणं कारणेणं इत्थीनाम-कम्मं गोयं निव्वंतिसु .. ॥"

सज्जनो! कर्म-बन्ध के कारण ही आत्मा ऊपर नहीं उठ पाती। इस संसार को एक कोर्ट मान लिया जाय तो आत्मा और कर्म को वादी-प्रतिवादी समझना होगा, वे सदा एक दूसरे को पराजित करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु इस प्रयत्न में सफलता कर्म को ही प्राय मिलती है। मकान को बाँधने में ही अधिक श्रम लगता है, तोडने मे नहीं। कपड़े को बुनने मे ही अधिक समय लगता है, फाडने में नही। किसी शिला को पहाड़ की चोटी पर पहुँचाने में कितना अधिक श्रम और समय चाहिये? पर उसे गिराने में--ऊपर से धकेलने मे काफी कम मेहनत करनी होती है। जरा-सी देर में सहज ही वह शिला लुढकती हुई नीचे जमीन पर आ टिकती है, इसी प्रकार कर्म सहज ही आत्मा को जीत लेता है। अस्तु।

विषय रूखा न लगे—इसलिए बात रूपक में प्रकट की जा रही है। कहा जा चुका है कि अनगार बन कर महाबल आदि सातो मित्र तपस्या करने लगे थे। तपस्या की आँच लगने पर कर्मों को कष्ट होने लगा, वे दिनो दिन क्षीण होने लगे। ...

सेनापति मोह को चिन्ता हुई। उसने सातो मित्रो मे प्रमुख महाबल की आत्मा पर आक्रमण करने का निश्चय किया। अपने निश्चय को सफल बनाने के लिए वह क्रोध को कहने लगा —" तुम बड़े तेजस्वी हो, इसलिए मैं समझता हूँ कि तुम अकेले ही आत्मा को परास्त कर सकोगे, जाओ और विजयी बन कर लौटो।" अपनी तारीफ सुन कर घमण्ड से क्रोध ने अट्टहास किया और महाबल की आत्मा पर चढाई करदी। एक-एक करके अपने सारे अस्त्र शस्त्रों का प्रयोग कर डाला, किन्तु मुनि क्षमाशील थे, उनके क्षमा-कवच को क्रोध का एक भी अस्त्र भेद न सका और निस्तेज होकर लौट गया। यह देख कर सेनापति मोह ने सोचा कि महाबल को आत्मा हम में से एक-एक को सहज ही जीत लेगी। एक-एक धागे को सहज ही तोडा जा सकता है, किन्तु कुछ धागो को मिला कर रस्सा बना देने पर उसे हाथी भी नहीं तोड सकता। जैसा कि किसी नीतिकार ने कहा है —" संघे शक्ति." अर्थात् समूह मे ही शक्ति रहती है। इसलिए अब एक-एक योद्धा को न भेज कर मान, माया और लोभ इन तीनों को एक साथ भेजना चाहिए। फिर सोचा कि मान और लोभ तो तैयार जल्दी हो जायेंगे, पर माया जल्दी तैयार न होगी, इसलिए पहले उसे जा कर समझाना चाहिए। उसने यदि आक्रमण करना मजूर कर लिया तो हमारी विजय निश्चित-सी हो जायगी। यह सोच कर सेनापति मोह ने माया को बुला कर सारी बाते कह दी। माया ने कहा —"आप विश्वास रखिये। यदि मै गई तो अवश्य जीत कर लौटूँगी। "का न अबला करि सके? कहा न जलधि समाइ?" अर्थात् समुद्र में क्या नहीं समाता? और स्त्री क्या नहीं कर सकती? सब कुछ कर सकती है। द्रौपदी को छुडाने के लिए श्री कृष्ण ने जब पद्मोत्तर पर चढाई की थी। उस समय अपने सैन्य को परास्त

होते हुए देख कर राजा पद्मोत्तर ने स्त्रीवेष धारण करके अपने प्राण बचाये थे—यह कौन नहीं जानता ? किसी मारवाड़ी कवि ने उसी प्रसंग को स्मरण करके लिखा है —

"ढाल–तलवार को काम पड़ियो जठे।
घाघरो ओढनी लाज राखी ॥"

इसलिए मेरी विजय निश्चित है, किन्तु एक शर्त्त के साथ ही मै जाना मंजूर कर सकती हूं। शर्त्त यह कि मान और लोभ की आज्ञा मे मै नहीं रहूँगी ! मान और लोभ को ही मेरी आज्ञा में रहना होगा ! जैसा मेरा इशारा हो वैसा इन दोनो को करना होगा—इस प्रकार यदि ये मेरे साथ रहे तो मैं जा सकती हू।" माया की यह बात सुन कर मोह ने मान और लोभ को समझा कर माया के साथ रहने पर नियुक्त कर दिया। माया मान और लोभ के साथ महाबल के पास पहुँची और उसकी स्थिति का ठीक-ठीक तरह से अवलोकन करने के बाद कुछ सोचकर उसने मान के कान मे कहा कि—"देखो ! ये त्यागी है, अनगार होने से समभावी हैं इनके मन मे स्वभाव से ही अहंकार का अभाव है, इसलिए वहुत सम्हल कर तुम्हें काम करना चाहिए। जव ये अनगार नहीं वने थे, राजा थे, उस समय के वडप्पन का इन्हे स्मरण दिलाओ !" फिर लोभ से कहा—"देखो ! ये सतोपी मुनि हैं, इसलिए भविष्य में वडा वनने की वासना इनमे जागृत कर दो, जाओ !" फिर दोनों से एक साथ कहने लगी —"यदि तुम दोनों" ने इस प्रकार काम कर दिया तो शेप अगला सारा काम मैं निपट लूँगी। इनके पास सरलता नामक एक दासी है, उसे मैं कैद करके उसके स्थान मे मेरी पुत्री कुटिलता को सरलता के वेप मे नियुक्त कर दूंगी ! वह प्रच्छन्न-रूप से उन्हे अपने पक्ष की सलाह देती रहेगी। अव हमे

अधिक विलम्ब न करते हुए अपनी-अपनी कार्य--सिद्धि में लग जाना चाहिए !" इस प्रकार सलाह करके सभी अपने-अपने काम में लग गये।

उधर महाबल अनगार सोचने लगे.—"जब मैंने दीक्षा नहीं ली थी, राजा था, उस समय मैं अपने मित्रो से बडा था—ये मेरी आज्ञा मानते थे, जब भी मैं इन्हे बुलाता था, तभी अपने-अपने राज्या को छोड कर ये मेरे पास चले आते थे। किन्तु अब इस अनगार बनने के बाद समान हो गये हैं और निश्चयानुसार एक-सी तपस्या करने लगे हैं, उससे भविष्य मे भी–परलोक मे भी हमें एक ही साथ एक–सी ऋद्धि–समृद्धि प्राप्त करेंगे, इसलिए उस समय भी मेरा बडप्पन सुरक्षित न रहेगा। पर यह तो ठीक नहीं मालूम होता।" अपनी दासी सरलता (सरलता के वेष मे छिपी हुई माया की पुत्री कुटिलता) से जब महाबल ने पूछा तो उत्तर मिला—"स्वामिन्। आप किस चक्कर में पड़े हैं? सीधी उँगली से घी नहीं निकलता। जगल मे सीधे लम्बे बॉस ही पहले काटे जाते हैं। कहा जाता है—स्वार्थं साधयेत् सुधीमान् अर्थात् कुशल या बुद्धिमान वही है कि जो अपने स्वार्थ की सिद्धि करे। इसके बाद जैसी भी आपकी इच्छा हो, आप कर सकते हैं। मैंने तो एक छोटी–सी सलाह मात्र दी है, उसे मानना न मानना आपके हाथ है।" यह सुन कर महाबल कुमार ने निश्चय कर लिया कि "परलोक में अपना बडप्पन सुरक्षित रखने के लिए मुझे मित्रों की अपेक्षा अधिक तपस्या करनी चाहिए, किन्तु यदि मैं अधिक लम्बी तपस्या करने लगा तो पूर्व संकल्प के अनुसार ये लोग भी मेरे साथ लम्बी तपस्या करना शुरू कर देंगे। इसलिए मुझे यह बात मन मे छिपा कर, इन्हें बिना सूचित किये ही शुरू कर देनी होगी, तभी मेरी तपस्या उनसे अधिक हो सकेगी अन्यथा नहीं।"

"जइ णं ते महब्बलवज्जा छ अणगारा चउत्थं उवसंपज्जित्ताणं विहरंति तए णं से महब्बले अणगारे छट्ठं उवसंपज्जित्ताणं विहरति····· अह दसमतो दुवालसं ॥"

इस प्रकार महाबल अनगार ने अधिक फल प्राप्ति के लोभ मे पड कर मित्रो के साथ कपटपूर्वक व्यवहार शुरु कर दिया। जब छह अनगार एक उपवास करते तो महाबल बेला (दो उपवास) कर डालते थे और जब दूसरे मित्र अनगार चोला करते तो महाबल पचोला कर डालते थे। धीरे-धीरे इनकी तपस्या मे मित्रों से काफी अन्तर पड गया।

एक दिन महाबल को विचार आया कि मैंने मित्रो के साथ विश्वासघात किया है-सकल्प तोडा है-अपराध किया है, इसलिए उत्कृष्ट से उत्कृष्ट कर्त्तव्य का पालन करके मुझे अपने उस पाप की पूर्ति कर लेनी चाहिए। अपनी इस माया के सेवन की बात स्वयं उनके दिल में खटक रही थी। पाप को कोई देखे या न देखे, अपनी आत्मा तो देखती ही है।

७- तपस्या और देहत्याग

सज्जनो !

कल के प्रवचन मे बतलाया गया था कि महाबल अनगार को अपने पिछले छलपूर्ण व्यवहार का पश्चात्ताप हो रहा था और उसे धोने के लिए वे कोई उत्कृष्ट आचरण करने की सोच रहे थे। चाहते थे कि ऐसी भूल फिर कभी न हो। सावधानी से ऐसा तो हो सकता है कि कपडे पर मैल बढ़े नही, किन्तु बढे हुए मैल को हटाने के लिए साबुन और जल चाहिए। इसी प्रकार आत्मा के कर्म-मैल को हटाने के लिए ज्ञान का साबुन और भावना का जल चाहिए। "णाया धम्मकहा सूत्र" का वर्णन करते हुए आचार्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी को बता रहे है कि आत्मशुद्धि के लिए भगवान् महावीर ने बीस उपाय बताये है :—

"इमेहि य णं वीसाहिं य कारणेहिं आसेवियबहुलीकएहिं तित्थयरणामगोयं कम्मं निव्वत्तिसु तं जहाः—

अरिहंतसिद्धपवयण गुरु थेरे बहुस्सुए तवस्सीसु।
वच्छलया य तेसिं, अभिक्ख णाणोवओगे य ॥१॥
दंसणविणय आवस्सए य सीलव्वए य णिरइयारे।
खणलव तवच्चियाए, वेयावच्चे समाही य ॥२॥
अपुव्वणाणग्गहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥३॥"

अर्थात् अरिहंत, सिद्ध, शास्त्र, गुरु, स्थविर, बहुश्रुत तपस्वी इन सातो की भक्ति (वत्सलता) करना, ज्ञान का मनन बार-बार करना, सम्यग्दर्शन, विनय, आवश्यक, शीलव्रत, वैराग्य, बाह्य-आभ्यन्तर तप, त्याग, वैयावृत्य, समाधि, नये ज्ञान को पढना, श्रुतभक्ति, प्रवचन का प्रभाव बढाना,—इन बीस कार्यों से जीव तीर्थंकरत्व प्राप्त करता है ।

महाबल इन बीस कार्यों में अपनी पूरी शक्ति और भावना से तन्मय हो गये । फलस्वरूप उन्होंने तीर्थंकरगोत्र का उपार्जन कर लिया । फिर वे सातों अनगार मासिक भिक्षु प्रतिमा की आराधना करके लघुसिंहनिष्क्रीडित नामक तप करने लगे ।

सफलता जैसे जैसे मिलती जाती है, वैसे ही वैसे समझदारों की प्रवृत्ति आगे बढ़ते रहने की होती है । यदि किसी ने फर्स्ट-क्लास का रेल्वे टिकिट लिया है, तो वह फटे कपडे पहिन कर मुसाफिरी करना नहीं चाहेगा । आज यदि कोई किसी बड़े मिनिस्टर से मिलना चाहे तो उसके सामने मैले कुचैले कपड़े पहिन कर नहीं जायगा । उसी प्रकार महाबल भी तीर्थंकर गोत्र का सर्टिफिकेट पाकर अपनी आत्मा को मैली नहीं रहने देना चाहते थे । किसान जब देखता है कि खेत मे घास इतनी अधिक है कि हाथों से उखाडी नहीं जा सकती तब आग लगा कर सारी घास-फूस कूडा-कर्कट जला डालता है, ठीक इसी प्रकार महाबल ने छोटी-छोटी तपस्याओं से आत्मशुद्धि जल्दी न होते देख कर बडी-बडी तपस्याओं की अग्नि से कर्मरूपी घास-फूस जला डालने की सोच ली और इसीलिए मित्रों सहित उन्होंने लघुसिंहनिष्क्रीड़ित तप शुरू कर दिया था ।

हटाने के लिए उसे अग्नि में तपाया जाता है। बिना तपाये सोना उज्ज्वल नहीं होता। इसी प्रकार बिना तप के आत्मा शुद्ध नहीं होती। इस विषय को अधिक अच्छी तरह समझने के लिए एक पटेल का दृष्टांत सुनाता हूँ।

एक गाँव में एक करोड़पति पटेल रहा करते थे। उन्हें सफेद कपडे पहिनने का शौक़ था। एक दिन उनके कोट पर एक छोटा-सा काला दाग लग गया। दाग कोयले का था, इसीलिए पटेल का सारा क्रोध कोयले पर टूट पडा। बड़े बड़े शहरों में तार-टेलिफोन आदि से सूचनाएँ भिजवा कर वहाँ के सारे कोयले और फैक्टरियों में उत्पन्न होने वाला सारा साबुन मँगवा-मँगवा कर एक नदी के किनारे दो पहाड—जैसे ढेर लगवा दिये। दूसरी ओर से हजारो नौकरो को दूना-तिगुना वेतन देकर इस कार्य पर नियुक्त कर दिया कि वे नदी-किनारे बैठ कर साबुन से धो-धो कर इन सारे कोयलों को सफेद कर दे। आर्डर के अनुसार काम शुरु हो गया था! निरीक्षण के लिए कुर्सी लगा कर खुद पटेलजी भी उन दोनों पहाडों (साबुन और कोयले के ढेरो) के बीच मे बैठ गये। कई दिनों तक ऐसा चलता रहा। पटेल ने सोचा था कि कोयले यदि सफेद हो जायँगे, तो फिर ये कभी किसी का दाग नहीं लगा सकेंगे।

गाँव मे पटेलजी के एक मित्र थे। दिन-दो दिन मे प्रायः दोनों का मिलाप हो जाया करता था, किन्तु इधर पटेलजी कई दिनों से नहीं मिले, इसलिए चिन्ता हुई कि वे कहीं बीमार तो नहीं हो गये। हाल-चाल का पता लगाने के लिए वे पटेलजी की हवेली पर पहुँचे और पूछा कि "पटेलजी की तबियत कैसी है?" उत्तर मिला—"अच्छी है।" फिर पूछा.—

"कहीं बाहर-गाँव गये हैं?"

"नहीं, यहीं है।"

"तो बताइए, वे कहाँ हैं ? मैं उनसे मिलना चाहता हूँ ?"

"वे नदी पर मिलेंगे ?"

"नदी पर ? वहाँ पानी भरने गये हैं या कपड़े धोने।"

"नहीं, पानी भरने और कपड़े धोने के लिए उन्हें नौकरों की कमी नहीं है।"

"तो क्या स्नान करने गये हैं ?"

"नहीं, स्नान तो वे गर्म पानी से करते हैं और नदी में गर्म पानी नहीं होता।"

"तो फिर क्यो गये है ?"

"वहाँ उन्होंने एक नया कारखाना खोला है। उसकी देख-रेख वे खुद करते है, इसलिए गये है।"

यह सुन कर मित्र महोदय नदी पर पहुँचे। वहाँ देखते हैं कि एक ओर कोयले का पहाड खडा है और दूसरी ओर साबुन की बट्टियों का पहाड, बीच में पटेलजी एक कुर्सी पर बैठे है। दोनों का मिलाप हुआ। एक कुर्सी और मंगवाई गई। दोनों बैठे और बातचीत होने लगी। बातचीत के सिलसिले में पटेलजी ने कहा कि "मैंने लाखो रुपयों का खर्च करके यह कारखाना इसीलिए खोला है कि सारे कोयले सफेद कर दूं। जिससे कि वे फिर कभी किसी के कपडों पर दाग न लगा सकें।" यह बात सुन कर पटेल की मूर्खता पर आई हुई जोरों की हँसी को मन ही मन रोक कर आये हुए मित्र ने कहा.—कोयले सफेद करने का बिना खर्च का एक उपाय मैं जानता हूँ। इसके लिए लाखों रुपयों का साबुन खर्च करने की क्या जरूरत ?" पटेल ने कहा—"यदि ऐसा उपाय जानते हो तो करके दिखा दो।" यह सुन कर मित्र महोदय ने

अपनी जेब से एक दियासलाई की सींक निकाली और उससे रगड़ कर कोयलो के ढेर मे आग लगा दी। देखते ही देखते सारा कोयलो का पहाड जल कर राख हो गया। फिर मित्र ने कहा कि "देखो सारे कोयले सफेद हो गये।" दोनो प्रसन्नता से शहर मे लौट गये।

कहने का आशय यही है कि कोयले बिना आग लगाये जैसे लाखो रुपये खर्च करने पर भी सफेद नही हुए और आग लगाते ही विना खर्च के सफेद होगये, ठीक उसी प्रकार लाखो रुपये खर्च करने पर भी आत्मा शुद्ध नही हो सकती, तपस्या से बिना कुछ खर्च किये ही आत्म शुद्धि हो सकती है। जैसा कि कहा गया है—

"तपोऽग्निना ताप्यमानस्तथा जीवो विशुद्धयति ॥"

अर्थात् तपस्या रूपी अग्नि से तपाये जाने पर जीव (आत्मा) शुद्ध होता है। तप ही आत्मा मे लगे हुए कर्मो को धीरे-धीरे सोख लेता है। इस विषय मे उत्तराध्ययन सूत्र के तीसवें अध्ययन की पाँचवीं और छठी गाथाएँ मनन करने योग्य है:—

"जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥
एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडीसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥"

अर्थात् जैसे किसी सरोवर का पानी निकालने के लिए आसपास से आने वाले पानी के रास्तो को रोक दिये जाने पर (सूर्य के) ताप से उसका शोषण होने लगता है, उसी प्रकार मुनि भी आस्रवो को रोक कर तपस्या के द्वारा करोड़ो भवो के संचित कर्मो की निर्जरा करता है।

जब तक पैर हैं, तब तक मनुष्य को जल्दी जल्दी चल कर

अपने स्थान पर पहुँच जाना चाहिए। जब तक बर्त्तन टूटते-फूटते नहीं, तब तक स्त्रियाँ उनके द्वारा रसोई बनाती रहती हैं। इसी प्रकार जब तक शरीर है और स्वस्थ है, तब तक तपस्या आदि करके आत्म शुद्धि का कार्य कर लेना चाहिए। यह बात महाबल प्रमुख सातो अनगार भलीभांति जानते थे, इसीलिए उन्होंने लघुसिंहनिष्क्रीडित नामक तप शुरू कर दिया था, जो दो वर्ष और अट्ठाइस दिनो मे पूर्ण हुआ। तपस्या की निर्विघ्न समाप्ति से उनका उत्साह एकदम बढ़ गया और उन्होंने स्थविर मुनि धर्मघोष की आज्ञा लेकर तुरन्त ही महासिंहनिष्क्रीडित नाम तपस्या शुरु कर दी, जो छह वर्ष दो मास और बारह अहोरात्र (दिनो) मे परिपूर्ण हुआ।

" तए णं ते महब्बलपामोक्खा सत्त अणगारा तेणं उरालेणं सुक्खा भुक्खा०······ ॥"

इस लम्बे अनुष्ठान से उन सातो अनगारो का शरीर सूख गया। यहाँ एक बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि तपस्या से शरीर भले ही सूख जाय, पर आत्मा नहीं सूखती। उल्टा आत्मतेज बढता है। तपस्या से अनेक लब्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। गोशालक को तेजोलेश्या प्राप्त हुई थी और भगवान् महावीर को शीतलेश्या। गौतम, सुधर्मा, केशीकुमार आदि के विशेषणो में "संखित्तविउल तेउलेस्से" यह शब्द आता है, जिससे मालूम होता है कि तपस्या के प्रभाव से इन आचार्यों को भी तेजोलेश्या प्राप्त हुई थी।

इस प्रकार ८४ हजार वर्षों तक दृढता से संयम का पालन करके दो मास की संलेखनापूर्वक समाधिमरण पाकर सातो अनगारों ने जयंत विमान मे जन्म लिया।

८-भवान्तर-प्राप्ति

आचार्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी को बता रहे हैं कि सञ्चित पुण्यफल भोगने के लिए महाबल प्रमुख सातों अनगार जयन्त विमान मे उत्पन्न हुए। वहाँ महाबलजी के जीव ने ३२ सागरोपम की आयुष्य पाया और शेष छह मित्रो के जीवों ने उससे कुछ कम आयुष्य पाया।

जयन्त विमान मे दिव्य सुखो का भोग करते हुए उन सातों मित्रो का आयुष्य प्रतिदिन घटने लगा। हाँ, घटने लगा। सुनने में यह बात कुछ अटपटी लगती है, क्योंकि प्रतिदिन बड़े होते हुए बाल-बच्चो को देख कर माता-पिता समझते हैं कि उनकी उम्र बढ़ रही है, किन्तु बात उल्टी है। यदि १० वर्ष के किसी बच्चे की उम्र ५० वर्ष की है, तो अब उसे ४० वर्ष ही तो जीना है, यह उम्र का घटना है, बढना नहीं। इस तथ्य को बहुत-से व्यक्ति नहीं समझते, इसीलिए प्रतिवर्ष जन्म-गाँठ मनाते हैं, मिठाई बाँटते हैं, उत्सव मनाते हैं। वैसे देखा जाय तो कहीं-कहीं आयुष्य घटना भी अच्छा माना जाता है, जैसे नारकीय जीवो का नरक मे, और कहीं-कही बुरा समझा जाता है, जैसे देवो का देवलोक में। जेल से मनुष्य जल्दी छूटना चाहता है, किन्तु धर्मस्थान से यदि जल्दी छूटना चाहे तो बुरा माना जायगा। यदि किसी के पास ५०) रुपये हैं और उनमें से १० रुपये खो जायँ तो वह मिठाई नहीं बांटेगा, उल्टा दुःखी होगा। किन्तु यदि १० रुपयो को सत्कार्य मे लगा दिया है, तो यह अच्छी बात है, इससे दुःख नहीं संतोष होगा। इसी प्रकार

यदि उम्र व्यर्थ जाती है, तो यह दु ख की बात है, क्योंकि जो दि
बीत जाता है, वह वापिस नहीं लौटता । जैसा कि जैन--सूत्रो
कहा है.—

"जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ ।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जंति राईओ ॥"

किन्तु यदि बीतने वाले समय का सदुपयोग हो रहा है, त
यह दु.ख की नहीं, हर्ष की बात है। सत्कार्य मे समय बीतना
उम्र की सार्थकता है । जैसा कि कहा है.—

"जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ ।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राईओ ॥"

इसलिए आयुष्य का घटना अच्छा भी हो सकता है, बु
भी हो सकता है, किन्तु आयुष्य घटता है—यह निश्चित है ।

"तए णं ते महब्बलदेववज्जा छप्पिय देवा जयंताओ
देवलोयाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं० ...... ॥"

महाबल के जीव को छोड कर शेष छह देव आयु, भव
और स्थिति का क्षय होने पर देवलोक से च्युत होकर इसी जम्बू--
द्वीप के भरत क्षेत्र मे अलग अलग देशो मे पैदा हुए ।

यहा आयुष्य, भव, स्थिति—ये तीन शब्द एक ही अर्थ के
मालूम होते हैं, किन्तु इनमें सूक्ष्म अन्तर है । आयुष्य का बन्धन
पूर्वजन्म मे होता है। भव का सम्बन्ध चालू जन्म मे है और
स्थिति का सम्बन्ध च्युतिसमय की मर्यादित अवधि मे है—तभी
तो सूत्रकारो ने इन तीनो का अलग-अलग उल्लेख किया है ।

देवलोक से च्युत होने पर छह देवों मे से किसका जीव कहाँ पैदा हुआ ? यह बात मूल मे तो स्पष्ट नही है, पर जैसा किसी अन्य ग्रन्थ मे देखा गया है, सो इस प्रकार है—" अचल " का जीव साकेतपुर में इक्ष्वाकुवंश के प्रतिबुद्ध नामक राजा के रूप में, "धारण" का जीव चम्पापुर मे अंगराज चन्द्रच्छाय नामक राजा के रूप मे वसु का जीव काशी में शंख नामक राजा के रूप में, "पूरण" का जीव कुणालपुर मे रूपी 'नामक राजा के रूप में "वैश्रवण" का जीव हस्तिनापुर मे कुरुराज अदीनशत्रु नामक राजा के रूप मे और "अभिचन्द्र" का जीव कम्पिल्लपुर में पाचालाधिपति जितशत्रु नामक राजा के रूप मे पैदा हुआ ।

" तए णं ते महब्बले देवे तिहि णाणेहिं समग्गो उच्चट्ठाणगएसु गहेसु सोमासु दिसासु वितिमिरासु विसुद्धासु० .... ॥ "

उधर वह महाबल देव का जीव भी अपने ३२ सागरोपम वर्ष का आयुष्य भोग कर जयत विमान से च्युत होकर तीन ज्ञान सहित महारानी प्रभावती की कुक्षि में फाल्गुन शुक्ला चतुर्थी की अर्ध रात्रि को अवतरित हुआ । उस समय अश्विनी नक्षत्र का योग था, वायु अनुकूल बह रही थी, दिशाएँ अन्धकार रहित थीं, खेत हरे-भरे थे, सभी मनुष्य प्रसन्न थे । महारानी प्रभावती मिथिला नगरी के शासक महाराज कुम्भ की सहधर्मिणी थी ।

९-चौदह महास्वप्न

सज्जनो !

आचार्य सुधर्मा-स्वामी अपने सुशिष्य जम्बू स्वामी को "णाया धम्मकहा" के आठवे अध्ययन का वर्णन सुनाते हुए कह रहे हैं कि देवलोक से च्युत होकर सातों मित्र इसी जम्बू द्वीप के भिन्न भिन्न राज्यो मे उत्पन्न हुए।

" तं रयणीं च णं पभावईदेवी तंसि तारिसगंसि वासभवणंसि सयणिज्जंसि जाव अद्धरत्तकालसमयंसि सुत्तजागरा०......॥ "

जिस रात को प्रभावती देवी की कुक्षि में महाबल देव की आत्मा अवतरित हुई, उसी रात्रि को आधी नींद की अवस्था में महारानी प्रभावती ने मंगल, उदार, कल्याणकारी, पवित्र और सुन्दर चौदह महास्वप्न अनुक्रम से इस प्रकार देखे.—हाथी, बैल, सिंह, लक्ष्मी, पुष्पमाला, चन्द्र, सूर्य, ध्वजा, कलश, पद्मसरोवर, क्षीरसागर, देवविमान, रत्नराशि और प्रज्ज्वलित अग्नि। स्वप्न देख कर रानी जागृत हुई।

वैसे तो गणित शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, रेखाशास्त्र, शकुन-शास्त्र आदि के समान स्वप्नशास्त्र भी प्रसिद्ध है। पुराने युग में स्वप्नशास्त्र का गहरा अध्ययन करने वाले भी काफी विद्वान् होते थे और जब किसी को अपने स्वप्नो का फल जानने-सुनने की इच्छा होती तो वह उन स्वप्नपाठकों के यहां जाता था अथवा स्वप्न-पाठकों को ही सन्मानपूर्वक अपने यहाँ बुला कर स्वप्नफल सुन

लेता था; किन्तु आज न तो वैसे विद्वान् रहे हैं और न वैसी परम्परा ही रही। इसलिए इस विषय मे थोड़ा-सा खुलासा कर देना ठीक मालूम हो रहा है कि आखिर ये स्वप्न आते क्यों हैं ?

सज्जनो !

प्रातःकाल दिखाई देने वाले लाल-लाल प्रकाश (अरुण-प्रभा) से "सूर्योदय होने वाला है" ऐसा अनुमान होता है, ठीक उसी प्रकार शुभ-स्वप्नों से अच्छे और अशुभ-स्वप्नो से बुरे कर्मों का उदय होने वाला है—ऐसा अनुमान सहज ही लग जाता है—इसलिए कहा जा सकता है कि पूर्वसंचित शुभाशुभ कर्मों के उदय की सूचना करने के ही लिए स्वप्न आते हैं। हाँ, कुछ स्वप्न ऐसे भी हैं, जो शुभाशुभ कर्मों के उदय से नहीं, किन्तु चिन्ता से आते हैं। रात को सोने से पहले जो कुछ उल्टे-सुल्टे विचार मन में उठते हैं, वही चित्रपट के समान स्वप्न मे ज्यों के त्यों दिखाई देने लगते हैं, किन्तु ऐसे स्वप्नो का फल कुछ नहीं होता—न अच्छा, न बुरा। स्वप्न के इन तीन प्रकारो को अच्छी तरह समझने के लिए बादल का दृष्टान्त काफी है —

कुछ बादल उमड़-घुमड़ कर बरसते हैं—धान्य की उत्पत्ति में सहायक बनते है। आकाश में ऐसे बादलो के दिखाई देने पर सारे मनुष्यों के और खास करके किसानों के आनन्द का पार नहीं रहता। दूसरे प्रकार के बादल वे हैं, जो अतिवृष्टि करके धान्य की बर्बादी करते हैं और सभी की प्रसन्नता छीन लेते हैं। तीसरे प्रकार के बादल बिना पानी के होते हैं, वे आते हैं और चले जाते हैं, उन्हे देखने से किसी को खुशी या नाखुशी नहीं होती।

मर्यादा मे बरस कर सबको प्रसन्न करने वाले बादलों के समान शुभ-स्वप्नों को समझना चाहिये। अतिवृष्टि से धान्य की

समान आल्हाददायिनी, सूर्य-किरण के समान तेजस्विनी एक ऐसी आत्मा अवतरित हुई है, जो अनेक भव्य जीवों का उद्धार करती हुई--साधु साध्वी श्रावक श्राविका रूप चतुर्विध संघ या धर्मतीर्थ का प्रवर्त्तन करके, समस्त कर्मों का ध्वंस करके मोक्ष में पधारेगी। जन्मोत्सव मनाने के लिए छप्पन दिशाकुमारियों सहित चौंसठ इन्द्र देवलोक से यहाँ आयेंगे। जन्म के समय तीनो लोकों में एक विशेष प्रकार का प्रकाश फैल जायगा। नारकीय जोव (जो घोर अन्धकार मे रहते हैं) भी उस प्रकाश को देख कर क्षण भर के लिए आनन्दमग्न हो जायँगे……।"

इस प्रकार का अपूर्व स्वप्न-फल सुन कर सारी सभा हर्षित हुई। महाराज और महारानी का आनन्द भी चौगुना हो गया। अन्त मे उचित पारितोषिक देकर सत्कार-पूर्वक स्वप्नपाठको को महाराज ने विदाई दी।
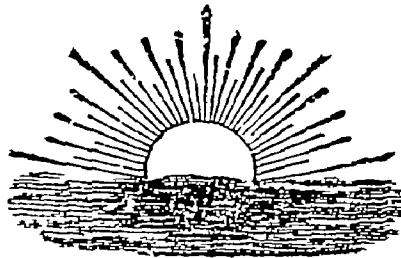
१०-जन्मोत्सव और नामकरण

आचार्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी को बता रहे हैं कि मिथिला के शासक महाराज कुम्भ की सहधर्मिणी महारानी प्रभावती की कुक्षि मे जिस रात्रि को महाबल की आत्मा प्रविष्ट हुई, उसी रात्रि को चौदह महास्वप्न दिखाई दिये और स्वप्न-पाठकों से फल सुन कर सभी आनन्दित हुए।

"तए णं तीसे पभावईदेवीए तिण्हं मासाणं बहुपडि-पुण्णाणं इमेयारूवे डोहले पाउब्भूए धन्नाओ णं ताओ.···॥"

क्रमश. तीन महीने बीतने पर महारानी प्रभावती देवी को ऐसा दौहृद उत्पन्न हुआ कि "वे माताएँ धन्य हैं जो जल और स्थल मे उत्पन्न होने वाले नानाप्रकार के अशोक, चम्पक, पुन्नाग, गुलाब, कोरंट, मालती आदि के पुष्पों को सूँघती हैं।"

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि दौहृद तीन मास के बाद ही क्यो होता है? पहले क्यो नही होता? इसका सही उत्तर तो केवली ही जानते हैं, मैं अपनी कल्पना से यह उत्तर दूगा कि आने वाला जीव कुछ विश्राम चाहता है, इसलिए तीन महीने तक विश्राम कर चुकने पर उसके पुण्य-पाप के अनुसार माता के विचारों मे आन्दोलन होता है, वह कुछ पाना चाहती है। जो पाना चाहती है, उसे दौहृद या डोहला कहते हैं।

यहाँ एक बात का खुलासा कर देना जरूरी समझ रहा हूँ। बहुत से लोगो की ऐसी समझ है कि गर्भस्थ जीव वहीं पैदा होता

है, बाहर से नही आता। जैसे गेहूँ से गेहूँ पैदा होते है, बाजरी से बाजरी और जौ से जौ, उसी प्रकार मनुष्य से मनुष्य पैदा होते हैं। परन्तु यदि थोडी गहराई से विचार किया जाय तो मालूम होगा कि इस तर्क में कोई जान नहीं है। गेहूँ से गेहूँ पैदा होते हैं, पर उनमे कोई विशेषता नही होती, सभी एक-से होते हैं, किन्तु मनुष्यों के तो चेहरे ही एक–दूसरे से भिन्न होते हैं, फिर कोई लूला होता है, कोई लंगड़ा, कोई अन्धा, कोई बहरा, कोई रोगी, कोई स्वस्थ, कोई बलिष्ठ, कोई निर्बल, कोई सुन्दर, कोई कुरूप, कोई गरीब, कोई अमीर, कोई विद्वान, कोई मूर्ख—इस प्रकार मनुष्य से मनुष्य की विषमता का कारण पुण्य-पाप ही हो सकते हैं, जिन्हें गर्भ मे आने वाला जीव अपने साथ लाता है। गर्भस्थ जीव के पुण्य-पाप के अनुसार ही माता को दौहद होते हैं।

जब महाराज विश्वसेन की रानी अचला की कुक्षि मे दयालु राजा मेघरथ का जीव आया, तो उसे ऐसा दौहद हुआ कि "मैं प्रजा की अशान्ति दूर करूँ।" इसके विपरीत महाराज श्रेणिक की रानी चेलना, जो सच्ची पतिव्रता थी और जिसे सोलह सतियो में एक स्थान मिला है, उसे ऐसा दौहद हुआ था कि "मैं अपने पति राजा श्रेणिक के कलेजे का माँस खाऊँ।" एक ओर पतिव्रता महासती और दूसरी ओर ऐसा दुष्ट दौहद? आश्चर्य होता है, किन्तु इसमें रानी का कोई अपराध नही है, उसकी कुक्षि मे उस समय कोणिक का जीव आया था। इसीलिए उसे ऐसा दौहद हुआ। इन दो दृष्टान्तों से जाना जा सकता है कि आने वाला जीव अपने पाप और पुण्य के अनुसार माता के विचार बदल देता है। यहाँ तो महापुण्य-शालिनी आत्मा गर्भ में आई थी, इसलिए महारानी को सुन्दर सुगंधित पुष्पों को सूँघने की इच्छा हुई।

"तए णं तीसे पभावतीए देवीए इमेयारूवं डोहलं पाउ-

भूयं पासित्ता अहासन्निहिया वाणवंतरा देवा खिप्पा-मेव०·········॥"

महारानी के दोहद की बात जानते ही वाणव्यन्तर देवों ने पाँचों वर्णों के उत्तमोत्तम सुगन्धित पुष्पों का महलों में ढेर लगा दिया और मालती पुष्पों के द्वारा एक बड़ा गुलदस्ता बना कर महारानी की शय्या के पास रख दिया। दोहद पूर्ण करके महारानी प्रभावती सानन्द रहने लगी।

"तए णं सा पभावती देवी णवण्हं मासाणं बहुपडि-पुण्णाणं अद्धट्ठमाणं राइंदियाणं जे से हेमंताणं पढमे मासे दोच्चे पक्खे०········ ॥"

धीरे-धीरे नौ महीने और साढ़े सात रात्रि-दिवस बीतने पर हेमन्त के पहले महीने के दूसरे पक्ष में अर्थात् मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को पिछली रात्रि के समय में महारानी प्रभावती ने उन्नीसवें तीर्थंकर को जन्म दिया। उस समय अश्विनी नक्षत्र का योग था। शुभग्रहगण उच्च स्थान में अवस्थित थे। शीतल मन्द और सुगन्धित वायु बह रही थी। सब के मन प्रसन्न थे।

अभी-अभी १९ वें तीर्थंकर का जन्म मिथिला में हुआ है—ऐसा अवधिज्ञान से जानकर भुवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवों को साथ लेकर ६४ इन्द्र जन्मोत्सव के लिए आने की तैयारी करने लगे।

उधर मिथिला के राजभवन में खूब चहल-पहल थी! सारी प्रजा जन्मोत्सव मनाने का धूमधाम से आयोजन कर रही थी! दिशाओं और विदिशाओं से ५६ देवकुमारियाँ भी जन्मोत्सव में सम्मिलित हुई थीं!

यथासमय ६४ इन्द्र राजभवन मे आये और महारानी प्रभावती को नमस्कार करके उस नवजात कन्या को नन्दीश्वरद्वीप पर उठा ले गये। वहाँ अभिषेकादि करके नाटक सगीत आदि के द्वारा अपने दिल की खुशी आठ दिन तक आठो दिशाओं में बिखरते रहे। फिर उस कन्या को महारानी के पास रख कर जिस दिशा से आये थे, उसी दिशा में लौट गये।

यहाँ एक बात यह भी समझ लेनी चाहिए कि माता के गर्भ मे जीव ६ महीने और ७॥ दिन ही रहता है, फिर भी आज संसार मे गडबड़ दिखाई देती है, कम या ज्यादह समय में प्रसूति होती है-इसका कारण गर्भस्थ जीव के पाप का सग्रह ही है। अस्तु।

कहा जा चुका है कि जब महारानी सगर्भा थी उस समय उसने मालतीपुष्पों के समूह द्वारा अपना दौहृद पूर्ण किया था। इसलिए नामकरण सस्कार करते हुए कुम्भराजा ने कह —

" जम्हा णं अम्हे इमाए दारियाए माउए गब्भंसि वक्कमाणंसि० ·······तं होऊणं णामेणं मल्ली ·····॥"

अर्थात् इस कन्या की माता को मालतीकुसुम का दौहृद हुआ था, इसलिए इसका नाम मालती या मल्लीकुमारी रक्खा जाता है।

नाम रखने की प्रथा बहुत प्राचीन काल से है, बल्कि यों भी कहा जा सकता है कि अनादिकाल से है क्योंकि व्यवहार के लिए नाम बहुत जरूरी है। यदि किसी वस्तु का कोई नाम न हो, तो व्यवहार ही बन्द हो जाय। यदि किसी मनुष्य का कोई नाम न हो तो उन्हें भिन्न-भिन्न आकृतियों से पहिचाना भले ही जा सके, पर याद नहीं रक्खा जा सकता न किसी के विषय में किसी को

कुछ कहा जा सकता है। कल्पना कीजिए ५ व्यक्ति जा रहे हैं, उनमें से किसी एक को हमें बुलाना है, तो कैसे बुलायँगे? "ऐ आदमी! यहाँ आओ" कहा जायगा, तो सभी समझेंगे "मुझे बुलाया जा रहा है" इसलिए सब चले आयँगे, पर सब को बुलाना नहीं है। एक को बुलाने के लिए यहाँ हमे नाम का ही उपयोग करना होगा! "नाम रूपात्मकं जगत्" अर्थात् सारा संसार नाम और रूप से युक्त है।

नाम रखने की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं:—

१—दौहद के आधार पर अपनी संतति के नाम रखने की परिपाटी बहुत प्राचीनकाल से है, जैसे पद्मप्रभ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, धर्मनाथ आदि तीर्थंकरों के नाम क्रमश पद्म, चन्द्र. पुष्प और धर्म के दौहद के आधार पर ही रक्खे गये थे।

२—गर्भकाल की परिस्थिति के आधार पर भी नाम रक्खे जाते हैं। जैसे:—त्रिशला महारानी के गर्भ में जब भगवान् आये तो महाराज सिद्धार्थ के राज्य में सोना, चाँदी, धन, धान्य आदि की खूब वृद्धि होने लगी थी, इसलिए भगवान् का नाम "वर्द्धमान कुमार" रक्खा गया। भगवान् जब महारानी विजया की कुक्षि में आये थे, तब महाराज जितशत्रु चौपडपाशा खेलने में रानी को जीत नहीं सके थे, इसे गर्भ का प्रभाव समझ कर जन्म होने पर "अजितनाथ" नाम स्थापित किया गया। इसी प्रकार सुमतिनाथ, शीतलनाथ, शान्तिनाथ, नमीनाथ, अभिनन्दन आदि तीर्थंकरों के नामकरण भी गर्भकालीन घटनाओं के आधार पर ही स्थापित किये गये थे।

३—माता-पिता के नाम के आधार पर भी बहुत-से नाम

रक्खे जाते थे । जैसे – मृगापुत्र, दाशरथि (राम), सौमित्रि (लक्ष्मण), राधेय (कर्ण), गांगेय (भीष्म) आदि ।

४—किसी सद्गुण के आधार पर भी बहुत-से नाम रक्खे जाते हैं । आजकल यह प्रथा बहुत चल पडी है । जैसे:—ज्ञानचद्र, प्रेमप्रकाश, विनोदकुमार, प्रमोदराय, प्रफुल्लचन्द्र, अविनाश आदि ।

५—किसी प्रसिद्ध महापुरुष के नाम के आधार पर भी आजकल नाम रक्खे जाते हैं । आशय यह होता है कि आगे चल कर हमारी सन्तति भी वैसी ही बने । जैसे:—जवाहर, सुभाष, महावीर, अशोक, मुहम्मद इत्यादि । [यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि जिन महापुरुषो के नाम के आधार पर ये नाम रक्खे जाते हैं, स्वयं उनके नाम तो गुणो के ही आधार पर थे, जैसे सुभाष (अच्छा बोलने वाला), महावीर (शक्तिशाली), अशोक (चिन्तारहित) आदि]

हाँ, तो सज्जनो ! कहने का आशय यह है कि इन पाँच प्रकार की पद्धतियों में से मल्लीकुमारी का नाम पहली पद्धति के अनुसार अर्थात् दौहद के आधार पर रक्खा गया ।
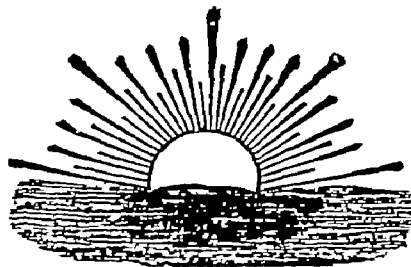
११-मोहनगृह

सज्जनो !

आचार्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी को "णाया धम्म कहा" के आठवें अध्ययन का अर्थ समझाते हुए बता रहे हैं कि मिथिला के महाराज कुम्भ ने अपनी पुत्री का नाम मल्लीकुमारी रक्खा। सचमुच मालती पुष्प के समान ही कोमल अङ्ग थे, उसके। श्वासोच्छ्वास से भी सुगन्ध आती थी। चन्द्र की ज्योत्स्ना के समान उसके मुखमण्डल की प्रभा थी। धवल चन्द्रिका को देख कर कौन प्रसन्न नहीं होता? सभी होते हैं। ठीक उसी प्रकार उस कन्या को देख कर भी सभी लोग प्रसन्न हो जाते थे। उसके सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहा गया है:—

"अणोवमसरीरा, दासीदासपरिवुडा, परिकिन्ना पीठमद्देहिं, असियसिरया, सुनयणा, बिंबोट्ठी, धवलदंतपंतीया, वरकमलकोमलंगी······"

अर्थात्—उस मल्लीकुमारी के सौन्दर्य के लिए दूसरी उपमा ही नहीं मिलती थी। वह दास-दासियों से घिरी रहती थी। अङ्ग-रक्षक उसके साथ रहते थे। मस्तक के काले काले कोमल केश बहुत अच्छे मालूम होते थे। आँखे स्वच्छ और सुन्दर थीं। ओष्ठ बिंब-फल के समान लाल-लाल थे। दाँतों की पँक्ति सफेद थी। कमल के समान सुकोमल अङ्गोपांग थे उसके।

"तते णं सा मल्ली ··उम्मुक्कबालभाव जाव रूवेण जोव्व-

णेण लावण्णेण य अईव–अईव उक्किट्ठा······देसूण वाससए जाया ते छप्पि रायाणो विउलेणं ओहिणा आभोए आभोएमाणी आभोएमाणी······"

मल्लीकुमारी धीरे-धीरे बढ़ती गई—केवल शरीर में या वय में ही नही, लावण्य में—सौकुमार्य मे—कलाकौशल में—और विद्या मे भी। बचपन बीता और तारुण्य ने जीवन में प्रवेश किया। मल्लीकुमारी की देह का वर्णन वीतरागी आचार्यों ने क्यों किया? ऐसी एक शंका यहाँ सहज ही उठाई जा सकती है। इसके समाधान में मुझे यहां कुछ कहना जरूरी मालूम हो रहा है। पहली बात तो यह है कि सौन्दर्य एक गुण है। गुण का माध्यस्थ भाव से वर्णन किया जाय तो अनुचित नहीं समझा जायगा। अनुचित है वासना या अप्रशस्त राग, किन्तु कथाकार आचार्य मे अप्रशस्त राग की तनिक भी सम्भावना नहीं है; क्यों कि यह कन्या आगे चल कर तीर्थंकर बनने वाली है, इसलिए आचार्यों के लिए आराध्य है, पूज्य है। पूज्य आत्मा के गुणों का वर्णन भक्ति से प्रेरित हो कर ही किया जाता है वासना से प्रेरित होकर नहीं। दूसरी बात यह है कि नीतिकारो का कहना है—"यथाकृतिस्तथा प्रकृति." अर्थात् जैसी आकृति होती है, वैसी ही प्रकृति भी होती है। यह तो निश्चित है कि सुन्दर आकृति पुण्यशाली जीव को ही प्राप्त होती है। इसलिए हो सकता है कि यहाँ सौन्दर्य का वर्णन करके सूत्रकार यह सिद्ध करना चाहते हो कि मल्लीकुमारी की आत्मा पुण्यशालिनी है।

यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिए कि सूत्रकारों ने सौन्दर्य का वर्णन करते हुए केवल आकृति का ही वर्णन किया है-गहनों या कपडों का नहीं। इससे मालूम होता है कि सौन्दर्य का गहनो से, बहुमूल्य कपड़ो से या आजकल प्रयोग मे लाये जाने

वाले स्नो, पाउडर, इत्र, लिप-स्टिक आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है। सुन्दरता केवल पुण्य से ही प्राप्त हो सकती है, इन बाह्य-साधनों से नहीं।

हाँ, तो वह सुन्दर कन्या बढते-बढते कुछ कम सौ वर्ष की हो गई। पहले कहा जा चुका है कि तीर्थंकर की आत्मा तीन ज्ञान सहित जन्म लेती है, इसलिए मल्लीकुमारी को भी जन्म से ही तीन ज्ञान थे। तीन ज्ञान मे अवधिज्ञान भी होता है, इसी अवधिज्ञान का प्रयोग करने पर मल्लीकुमारी को मालूम हो गया कि पूर्व-जन्म के छह बालमित्र इस भव में कहाँ--कहाँ पैदा हुए है। उन्हे देख कर मल्लीकुमारी सोचने लगी.—

"अंगारे राख से ढके हों, तब तक भले ही शान्ति मालूम होती हो, किन्तु जरा--सी फूँक या हवा का झोका लगते ही वे प्रदीप्त हो उठते है। ठीक इसी प्रकार इन पूर्वभव के बाल--मित्रो को किसी प्रकार मेरा परिचय प्राप्त होगा ही और तब वह मैत्री तीव्र वासना में बदल जायगी। सभी मुझे प्राप्त करना चाहेगे और आपस में कट मरेंगे। या चढाई करके मेरे पिताजी को चिन्ता के समुद्र में ढकेल देगे। मुझे इस भावी अनर्थ को रोकने के लिए अभी से प्रयत्न करना चाहिए। आग लगने से पहले ही कुआ खोद लेने में समझदारी है।"

ऐसा विचार करके भावी विपत्ति का प्रतीकार करने के लिए उसने एक युक्ति सोच निकाली। तुरन्त ही अपने कौटुम्बिक पुरुष को बुला कर उसे आज्ञा दी कि:—

" गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! असोगवणियाए एगं महं मोहणघरं करेह अणेगखंभसयसन्निविट्ठं ......॥ "

"हे देवानुप्रिय ! तुम अशोक-वाटिका के बीच में एक ऐसा विशाल मोहनगृह बनवाओ, जिसमें अनेक खम्भे हो और जिसके बीच मे छह कोठरियाँ हों, उन कोठरियो के भीतर छह जालियाँ हों और उनके भीतर सारे मोहनगृह के ठीक बीच मे एक मणिपीठिका बनवाओ ! इतना कार्य हो चुकने पर एक कुशल मूर्त्तिकार से ऐसी स्वर्णप्रतिमा बनवाओ, जिसकी आकृति, सौन्दर्य वर्ण आदि ठीक मेरे ही समान हो ! प्रतिमा भीतर से पोली होनी चाहिए और उसके मस्तक पर एक छेद होना चाहिये, जो एक सुगन्धित कमल से ढका रहे।"

आज्ञानुसार सारा कार्य कौटुम्बिक पुरुष ने कर दिया। प्रतिमा भी तय्यार हो गई थी। यह सब देख कर मल्लीकुमारी ने उस स्वर्णप्रतिमा को मोहनगृह के बीचोबीच बनी हुई मणिपीठिका पर रखवा दिया। प्रतिमा इतनी सुन्दर मालूम हो रही थी कि देखने वालो को उसमे प्रत्यक्ष मल्लीकुमारी (समझ लेने) का भ्रम हो जाता था।

"तए णं सा मल्ली विदेहरायवरकण्णा अण्णया कयाइ जे विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आहारेति ततो मणुण्णातो असण-पाण-खाइम-साइमातो कल्लाकल्लिं एगमेगं पिंडं गहाय०॥ ॥"

इसके बाद उस मल्लीकुमारी ने अगला मनोगत कार्य प्रारंभ किया। प्रतिदिन जो स्वादिष्ट आहार वह खाती थी, उसमें से एक कौर नित्य उस सोने की प्रतिमा मे मस्तक के छेद द्वारा डालती रहती और एक सुगधित कमल से वह छेद ढक दिया करती। इस तरह अनेक दिन बीतने पर भीतर पडा हुआ आहार सड़ने

लगा और उसमें घोर दुर्गन्ध पैदा हो गई। उस दुर्गन्ध का वर्णन करते हुए कहा गया है.—

"से जहा णामए—अहिमडेति वा गोमडेति वा णरमडेति वा जाव एत्तो अणिट्ठतराए अमणामतराए ॥"

अर्थात्—जितनी मरे हुए साँप, गाय या मनुष्य के शरीर से दुर्गन्ध आती है, सडने पर उससे अधिक आती है, किन्तु इस स्वर्णप्रतिमा के भीतर पड़े-पड़े सड़ने वाले खाद्यपदार्थ की दुर्गन्ध तो उस से भी अधिक थी। प्रतिदिन प्रतिमा के मस्तक के छेद पर सुगन्धित कमल का पुष्प ढका जाता था, इसलिए भीतर की दुर्गन्ध भीतर ही भीतर घुट रही थी।

मल्लीकुमारी के इस व्यवहार को देख कर कोई कुछ समझ न पाया कि वह कर क्या रही है? स्वयं मल्लीकुमारी ने भी यह सब उठापटक करने का प्रयोजन किसी के सामने प्रकट नहीं किया। महापुरुष सिर्फ करना चाहते हैं और सामान्य पुरुष सिर्फ कहना। जैसा कि एक अनुभवी कवि का कथन है—

"नीचो वदति न कुरुते,
न वदति सुजनः करोत्येव ॥"

मल्लीकुमारी ने आने वाली विपत्ति से बचने के लिए ही यह सब किया था। इस मोहनगृह का क्या उपयोग हुआ? सो आगे अपने आप प्रकट हो जायगा।

११-पहला दूत

आचार्य सुधर्मा स्वामी अपने सुशिष्य जम्बू स्वामी को "णाया धम्मकहा" के आठवे अध्ययन का अर्थ समझाते हुए कह रहे है —

" ते णं काले णं ते णं समए णं कोसला णामं जणवए होत्था ॥ तत्थ णं……… ॥ "

अर्थात् उस काल और उसी समय मे कौशल देश मे साकेत नामक नगर था। नगर के ईशान कोण में नागदेव का मन्दिर था। मन्दिर काफी सुन्दर था।

प्रजा-जन सुखी थे, क्योंकि सुबुद्धि नामक मन्त्री की सलाह के अनुसार इक्ष्वाकुवश का बुद्धिमान् राजा प्रतिबुद्धि उस नगर का शासन करता था।

राजा और प्रजा के बीच मन्त्री का वही महत्त्व है, जो मकान की दीवार में दो पत्थरों के बीच सीमेंट का है। सीमेंट दोनों पत्थरों को सम्हालती है। मन्त्री भी राजा और प्रजा के हित की बात सोचता है। दोनों को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करता है। इस बात के समर्थन मे आदर्श मन्त्री अभयकुमार की एक घटना याद आ रही है।

महाराज श्रेणिक ने अपने बुद्धिमान् पुत्र को ही मन्त्रीपद पर नियुक्त किया था, जिसका नाम था-अभयकुमार। महाराज को

प्रतिदिन भोजन के बाद पान खाने की आदत थी। इसके लिए एक चाकर नियुक्त था, जो ठीक समय पान का बीड़ा बना कर महाराज को दिया करता था। एक दिन बीडा बनाते समय चाकर का ध्यान इधर-उधर हो गया और भूल से उसमें कुछ चूने की मात्रा अधिक हो गई। इधर षड्रस भोजन करके जब महाराज श्रेणिक अपने सिंहासन पर पधारे तो उस चाकर ने हमेशा की तरह पान का बीड़ा हाजिर किया। महाराज ने उसे ज्यों ही मुंह में रक्खा त्यों ही उसका स्वाद बिगड़ा हुआ मालूम हुआ। चूने ने जीभ पर चटका लगा दिया। इससे महाराज के गुस्से का पार न रहा। उन्होंने पान वाले को बुला कर आज्ञा दी कि वह अभी जाकर पान में डाला जाने वाला पावभर चूना बाजार से ले आये। यह सुन कर भागता हुआ चाकर अभयकुमार के बँगले के निकट होकर जा रहा था कि अभयकुमार ने उसे आवाज देकर अपने पास बुला लिया। पूछने पर उसने कहा कि "मैं महाराज श्रेणिक की आज्ञा से पावभर चूना लेने बाजार में जा रहा हूँ।"

अभयकुमार बुद्धिमान् थे, वे समझ गये कि "जरूर कुछ दाल में काला है। जरूर इस चाकर से कोई अपराध हुआ होगा और उसी की सजा देने के लिये यह चूना मँगवाया जा रहा है। चूना चाकर को खिलाया जायगा और व्यर्थ ही इस बेचारे के प्राण पँखेरू उड जायँगे। यह बात इसे मालूम नहीं है, किन्तु मेरा तो कर्त्तव्य है कि किसी प्रकार इसे बचाने का प्रयत्न करूँ।" मन ही मन ऐसा विचार करके अभयकुमार ने कहा—"देखो, बाजार से तुम चूना मत खरीदना। चूने के बदले पाव भर मक्खन खरीद लाना।"

यह सुन कर चाकर ने कहा—"हजूर! राजा ने तो चूना ही मँगवाया है, मक्खन ले जाने से वे नाराज होंगे और आज्ञा-भङ्ग

करने के अपराध मे मुझे नौकरी से अलग कर देंगे ।" अभयकुमार ने आश्वासन देते हुए कहा—"घबराओ मत ! जो कुछ मैंने कहा है, वैसा ही करो । इस पर यदि राजा नाराज भी होगे तो चिन्ता नही, मै तुम्हारी रक्षा करूँगा ।" चाकर को अभयकुमार पर विश्वास था, इसलिए वह बाजार से चूने के बदले पावभर मक्खन ही खरीद कर महलों मे राजा के सामने उपस्थित हुआ ।

उधर राजा तो गुस्से से लाल हो ही रहा था । तुरंत ही उसने कुछ सैनिको को नंगी तलवारो के साथ उस चाकर के आसपास खड़ा करते हुए आदेश दिया –"सैनिको, यह चाकर जरा भी इधर-उधर भागने की चेष्टा करे कि तुरन्त इसका सिर उडा दो ।" फिर चाकर से कहा–"भोग अब तू अपने किये का फल । खा जा यह सारा चूना ।"

चाकर को अब सारी बात समझ मे आई कि क्यों मुझ से चूना मँगवाया गया था ? फिर मन ही मन अभयकुमार की तारीफ करते हुए तथा ऊपर-ऊपर से कुछ घबराहट का नाटय करते हुए खरीद कर लाया हुआ अपना सारा चूना (मक्खन) खा गया । उधर राजा का क्रोध शान्त हो गया था, इसलिए अपने सिंहासन पर जा बैठा । सैनिक भी अपने-अपने स्थान पर चले गये । इस तरह मौका पाकर चाकर महलों से निकल कर सीधा अभयकुमार के बँगले पर पहुँचा । कृतज्ञता और श्रद्धा से उसका मस्तक अभय-कुमार के चरणों में झुका था ।

कहने का आशय यह है कि एक सामान्य अपराध पर प्राण-दण्ड की आज्ञा अनुचित थी । इस बात को समझ कर अभयकुमार ने उस चाकर को अभयदान देकर अपने कर्त्तव्य का पालन किया, न्याय की रक्षा की । सच्चे मत्री ऐसे ही होते हैं । इसलिए मत्रीपद बुद्धिमान् पुरुषों को सौंपा जाता है ।

यहाँ राजा प्रतिबुद्धि के मंत्री का नाम भी सुबुद्धि था, जो सचमुच "यथा नाम तथा गुणाः" वाली लोकोक्ति को चरितार्थ करने वाला था। महारानी का नाम पद्मावती था।

"तए णं पउमावतीए देवीए अन्नया कयाइं नागजत्ता ···· जेणेव पडिबुद्धि राया तेणेव उवागच्छइ ·····एवं खलु सामी! मम कल्लं णागजत्तए भविस्सइ, तं इच्छामि णं सामी! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाणी······ ॥"

एक बार नागयात्रा-महोत्सव का समय निकट आया जान कर महारानी पद्मावती ने महाराज प्रतिबुद्धि से कहा—"स्वामिन्! कल नागयात्रा महोत्सव होने वाला है, सो मैं उसमे सम्मिलित होने की आज्ञा चाहती हूँ और चाहती हूँ कि स्वयं आप भी उस मे पधार कर महोत्सव की शोभा बढाएँ!" महाराज ने महारानी की बात स्वीकार की। इससे हर्षित हो कर महारानी ने कौटुम्बिक पुरुष को बुला कर कहा—हे देवानुप्रिय! कल नागयात्रा का महोत्सव है, इसलिए तुम जाकर माली से कहो कि वह जल और स्थल मे उत्पन्न होने वाले सुन्दर से सुन्दर पाँचो वर्ण के पुष्पों की मालाएँ बना कर नागदेव के मन्दिर में हाजिर करे और एक सुन्दर कलापूर्ण "श्रीदामगड" की रचना भी करे। फिर चित्रकारो से जाकर कहो कि वे महोत्सव के मण्डप को सजायें और उसकी दीवारो पर हस, मृग, मयूर, क्रौंच, सारस, चक्रवाक, कोयल आदि के सुन्दर चित्र बनाये।" आज्ञानुसार कौटुम्बिक पुरुष ने सारी व्यवस्था करवा दी।

दूसरे दिन प्रात काल दासियो के परिवार सहित रथ में बैठ

कर साकेत नगर के बीच से निकल कर पुष्करिणी (बावडी) के भीतर प्रवेश करके महारानी ने स्नान किया और भीगे वस्त्रो सहित उत्पलादि कमलो को हाथों में लेकर नागदेव के मन्दिर मे पहुँची।

यहाँ कोई यह न समझ बैठे कि नागपूजा के लिए भींगे वस्त्रों से मन्दिर मे जाने का यह रिवाज अच्छा है, अनुकरणीय है। इसलिए खुलासा किया जा रहा है कि राजा प्रतिबुद्धि और पद्मावती रानी जैन नही थे। इसीलिए इन्हे धर्म का असली रहस्य मालूम न था और ये लोग ऐसी घातक रूढ़ियों से चिपटे हुए थे। आज तो स्नान के लिए स्पेशल बाथरूम बनने लगे हैं और पुरुष भी इन्ही बन्द कमरो मे स्नान करके अपनी लज्जा बचाते हैं। फिर स्त्रियाँ तो पुरुषो से अधिक लज्जालु समझी जाती हैं—होती भी हैं। इसलिए सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि पुष्करिणी जैसे खुले स्थान मे स्नान करके गीले कपडो से सैकडों पुरुषो के बीच होकर मन्दिर में जाने की चेष्टा मे स्त्रियो की कितनी लज्जा बचती होगी? ऐसी बेशर्मी के रिवाज् आज काफी कम हो चले हैं, फिर भी सुनने मे आता है कि बहुत से प्रांतो मे "कार्तिक-स्नान" के नाम से आज भी यह प्रथा जीवित है। हमे चाहिए कि ऐसी घातक और निर्लज्जतापूर्ण कुप्रथाओं को बन्द करें-कराएँ और इस से होने वाले भयकर अपमान से समाज की महिलाओं को बचाएँ।

हाँ तो उधर महाराज प्रतिबुद्धि भी सैन्य के साथ हाथी पर सवार होकर नगर के बीचो बीच होते हुए मण्डप मे आ पहुँचे। मंडप की सजावट से राजा बहुत प्रसन्न हुए। मंडप के बीच में विशेष कलापूर्ण ढग से बनाया हुआ "श्रीदामगंड" रखा हुआ था। उसे राजा टकटकी बाँध कर देखने लगे। उसके सौन्दर्य पर मुग्ध,

हर्षित, विस्मित और गर्वित होकर अपने सुबुद्धि नामक मंत्री से राजा ने कहा:—

"मन्त्रिवर! राजकीय कार्यों से तुम्हें बहुत दूर-दूर के देशों में जाना पडता है। इसलिए पूछता हूं कि क्या तुमने इतना सुन्दर श्रीदामगंड और कहीं कभी देखा है? मेरे विचार में तो इसकी तुलना शायद ही दुनियाँ में कहीं मिले।"

यह सुन कर मन्त्री ने उत्तर दिया:—'ऐसी बात नहीं है राजन्! सुनिये, मैं एक बार आपकी आज्ञा से मिथिला नगरी मे गया था। वहाँ कुम्भ राजा की असीम अनुपम सौन्दर्यशालिनी कन्या मल्लीकुमारी की वर्षगाँठ (जन्मोत्सव) मनाई जा रही थी। उस प्रसंग पर उस कुमारी के पास एक सुन्दर "श्रीदामगंड" देखा था। क्या कहूँ राजन्! महारानी के इस श्रीदामगड से वह लाख गुना सुन्दर था। मैं तो बस देखता ही रह गया था!"

कुमारी की बात सुनते ही राजा की वासना उत्तेजित हो उठी। वह सोचने लगा कि इतनी अधिक रूपवती युवती यदि अब तक कुँआरी है, तो मैं ही उस से विवाह क्यो न कर लूँ।

तुरन्त ही नागमहोत्सव का कार्य निपट जाने के बाद राजा महलों में आये और एक दूत को बुला कर आदेश दिया:—

"गच्छाहि णं तुब्भे देवाणुप्पिया! मिहिलं रायहाणिं तत्थ णं कुंभगस्स रन्नो धूयं पभावतीए देवीए अत्तयं मल्लिं विदेहरायवरकन्नगं मम भारियत्ताए वरेहि०........॥"

अर्थात्—हे देवानुप्रिय! तुम मिथिला मे कुम्भ राजा के पास जाओ और उनकी कन्या मल्लीकुमारी को मेरी भार्या (रानी) बनाने के लिए याचना करो।

आज्ञा पाते ही दूत सैनिकों के साथ चार घण्टियों वाले विशाल घोड़ों के रथ पर सवार होकर मिथिला की ओर रवाना हुआ।

अरणक का धैर्य

प्रिय सज्जनो !

आचार्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य श्री जम्बू स्वामी को " णायाधम्मकहा " के आठवें अध्ययन का अर्थ समझाते हुए कह रहे हैं.—

" ते णं काले णं ते णं समए णं अंगणामं जणवए होत्था, तत्थ णं चम्पाए णामं णयरीए .....॥"

उस काल और उसी समय मे अग नामक देश में चम्पा नामक राजधानी थी, जो बड़ी ही सुन्दर थी। यहाँ चन्द्रच्छाय नामक राजा राज्य करते थे। नागरिकों मे अरणक श्रावक प्रमुख अनेक धनाढय व्यापारी भी सानन्द रहा करते थे।

श्रावक अरणक धर्म के जानकार थे। जीव, अजीव आदि तत्त्वों का उन्हें अच्छा ज्ञान था। कारण यह कि वे सन्तों की संगति मे रहते थे। श्रमणों के प्रवचन ध्यान-पूर्वक सुनते थे। दियासलाई पर रगड लगते ही उसमें आग पैदा हो जाती है, ठीक इसी प्रकार सत्संगति से विवेक की रगड़ लगते ही धर्म प्रकट होता है। जैसा कि एक पुराने हिन्दी कवि ने कहा है:—

" धर्म न वाडी नीपजे, धर्म न हाट विकाय।
धर्म विवेका नीपजे, जिम करिये तिम थाय ॥ "

पेड़ों के समान वगीचे मे धर्म पैदा नहीं होता और न वह अन्य वस्तुओं की तरह वाजार में विकता है। धर्म की उत्पत्ति का

हस्य विवेक है। कल्पना कीजिए-किसी पुरुष का शरीर सुन्दर है, ान हैं, नाक है, हाथ-पैर हैं, सारे अंगोपाग हैं, पर सिर्फ आंखें हीं हैं, वे हों तो क्या और न हो तो क्या ? उसका कोई काम कना न चाहिए। किन्तु मित्रो ! बात उल्टी है, आँखो के बिना सका जीवन अधकारमय है, आँखें छोटी भले ही हों, पर उनके बना उसका काम चल ही नहीं सकता । शरीर मे आँखो का जो हत्त्व है, वही जीवन में विवेक का है। विवेक सन्तों की संगति से ी प्राप्त होता है। अस्तु।

श्रावक अरणक स्वभाव से ही काफी सरल और उदार थे ! ामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध आदि धार्मिक-कार्यों में सदा तत्पर हते थे। इनकी धार्मिक-दृढ़ता सारे नगर मे विख्यात थी ! यहाँ क कि स्वय इन्द्र भी देव-सभा में इनके इस गुण की तारीफ केया करते थे।

एक दिन अपने मित्रों सहित श्रावक अरणक गणिम (नारि-यल आदि गिनने योग्य), धरिम (धान्य आदि तोलने योग्य), मेज्ज (कपडा आदि मापने योग्य) और परिच्छिज्ज (स्वर्ण आदि परीक्षा करने योग्य) इन चार प्रकार के द्रव्यो को जहाज मे भर कर व्यापार करने के लिए विदेश में निकले। समुद्र की छोटी-बड़ी तरंगों को पार करती हुई जहाज अनेक योजन दूर चली गई। सब के चित्त प्रसन्न थे। इतने मे यात्रियो के भाग्य ने पलटा खाया। क्या हुआ ? देखिये —

"अकाले गज्जिते, अकाले विज्जुए, अकाले थणिय-सद्दे, अभिक्खणं-अभिक्खणं आगासे देवयाओ णच्चन्ति, एगं च णं महापिसायरूवं पासति······॥"

अर्थात् बेमौसम ही आसमान मे मेघ छा गये, विजली चमकने लगी, गर्जना होने लगी, जोरों की हवा बहने लगी, भीषण तूफान उठ खडा हुआ, जहाज हिलने और उछलने लगा। इस परिस्थिति मे सभी यात्री चिन्तामग्न हो गये थे और इन्द्र, स्कंध, रुद्र, शिव, वैश्रमण नाग, भूत आदि अपने-अपने इष्टों का स्मरण करने लगे थे, किन्तु श्रावक अरणक इस समय विचारो मे तल्लीन थे। वे सोच रहे थे कि इस प्रकार अचानक मौसम में अदलाबदली कभी हो नहीं सकती। इसके मूल में कोई खास कारण होना चाहिये। महापुरुष विपत्तियों से कभी घबराते नहीं, केवल धैर्य से कार्य-कारण का विचार करके उनसे बचने का उपाय सोचते हैं।" इसी समय सामने ही एक भयकर पिशाच प्रकट हुआ। घने अन्धकार के समान काला-काला उसका शरीर था। उसके हाथ में एक नङ्गी तलवार चमचमा रही थी। काले-काले भयङ्कर साँपो के उसके कुण्डल कानो पर लटक रहे थे। अभिमान से मत्त बना हुआ वह अट्टहास कर रहा था!

पिशाच के विकराल रूप को देखने पर यात्रियों का भय और अधिक हो गया। मारे डर के काँपते हुए वे एक दूसरे के शरीर से चिपट कर बैठ गये।

"तए णं अरहन्नए समणोवासए तं दिव्वं पिसायरूवं एज्जमाणं पासति ···अभीए, अतत्थे, अचलिए, असंभंते, अणाउले, अणुव्विग्गे, अभिण्णमुहरागणयणवण्णे, अदीण-विमणमाणसे पोयवाहणस्स एगदेसंसि वत्थंतेणं भूमिं पम-ज्जइ ·· ····॥"

यह सब कुछ देख कर भी अरणक श्रावक घबराये नहीं। शान्त-भाव से वे सोच रहे थे—"डरना चाहिये, पापों से! और

किसी से नहीं । दूसरी बात यह है कि ऐसे देव, पिशाच, यक्ष आदि इन्द्रों के सेवक होते हैं और इन्द्र देवाधिदेव तीर्थंकर के । तीर्थंकर मेरे आराध्य है, इसलिए यह पिशाच उनके सेवक का सेवक है। जब मैं सेवक से भी नहीं डरता तो सेवक के सेवक से क्यों डरूँ? तीसरी बात यह है कि जैसे मेरी आत्मा मे अनन्त शक्ति छिपी है, वैसे इसकी भी आत्मा मे अनन्त शक्ति है । जैसे में सज्ञी हूँ, पचेन्द्रिय हूँ, वैसे यह पिशाच भी सज्ञी है, पचेन्द्रिय है, इसलिए यह सजातीय है, तब अपने जाति-भाई से क्यो डरूँ? चौथी बात यह है कि यह मेरा कुटुम्बी है, क्योकि जैनसूत्रो मे लिखा है:—

न सा जाई न सा जोणी, न तं ठाणं न तं कुलं ।
न जाया न मुआ चेव, जत्थ जीवा अणंतसो ॥

अर्थात् ऐसी जाति, योनि, स्थान या वंश नही है कि जहां सब जीव अनन्त बार न पैदा हुए हो और न मरे हो । इसलिए यह भी साफ हो जाता है कि किसी न किसी भव मे इस पिशाच की आत्मा मेरे कुटुम्ब में पैदा हुई होगी, तब अपने कुटुम्बी जन से क्यों डरूँ? पांचवी बात और सब से अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है अपने आपको निर्धन वही समझेगा कि जिसे अपनी तिजोरी का पता न हो । इसी प्रकार भयभीत वही होता है, जिसे अपनी आत्मशक्ति का पता न हो । अपने गुरुओं के मुंह से जो कुछ मैंने धर्म का मर्म सुना-समझा है, उससे मालूम हुआ कि भगवान् पार्श्वनाथ पर कमठ ने कितने उपसर्ग किये थे ? वर्द्धमान-स्वामी पर भी संगम देव ने उपसर्गों की झडी लगा दी थी एक के बाद एक । पर दोनों कितने निर्भय और शान्त रहे ? धन्य है उन्हें ! उनके इस प्रचण्ड धैर्य और सागर के समान गम्भीरता के आगे इन्द्र भी झुकते थे । सचमुच आत्मा में परमात्मा जैसी ही शक्ति है, पर हम जानते नहीं, इसीलिए दु:ख उठाते हैं.—

" शक्ले इन्सा में खुदा था, मुझे मालूम न था।
चाँद बादल में छिपा था, मुझे मालूम न था ॥ "

किसी शायर के इस शैर में यह बात खूब अच्छी तरह से प्रकट की गई है। वास्तव मे मनुष्य के आकार में हम 'ईश्वर' ही हैं, पर हमे 'मालूम' नहीं है, ज्ञान नहीं है। चाँद बादल मे छिपा हो, तो दिखाई नहीं देता, ठीक इसी प्रकार कर्मों से आत्मा ढकी हुई है, इसीलिए उसकी अनन्त शक्ति दिखाई नहीं देती।

ऐसा सोचते-सोचते श्रावक अरणक भयंकर रूप धारण किए हुए उस क्रूर पिशाच को अपनी तरफ आते हुए देख कर भी शान्त रहे, असम्भ्रान्त, अभीत, अकंपित, अनाकुल, अनुद्विग्न बने रहे, उनके चेहरे की चमक जरा भी फीकी नहीं हुई। उनके मन में थोड़े भी दीनता के भाव न आये। फिर उसी जहाज के एक कोने में वस्त्र से भूमिका शुद्ध करके अरणक श्रावक सामायिक (सागारी सथारा) करके बैठ गये और यह प्रतिज्ञा ले ली कि—

" जइ णं अहं एत्तो उवसग्गाओ मुंचामि तो मम कप्पइ पारित्तए, जइ णं अहं.........॥"

अर्थात् जब तक यह सारा उपद्रव शान्त न हो तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण न करते हुए इसी प्रकार प्रभु अरिहंतदेव का ध्यान करता रहूँगा।

इस प्रकार प्रतिज्ञा ले लेने के बाद वे मन ही मन भगवान महावीर की सौम्यमुद्रा के ध्यान में तल्लीन हो गये उन्हें विश्वास था कि एकाग्रचित्त से प्रभु का ध्यान करने पर आत्मा परमात्मा जैसी बन जाती है। जैसा कि कहा गया है.

ध्यानाज्जिनेश ! भवतो भविनः क्षणेन,
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति ।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः ॥

—कल्याणमन्दिरस्तोत्र

अर्थात् हे जिनेन्द्र ! आपका ध्यान करने से क्षणमात्र मे भव्य जीव इस देह को छोड़ कर परमात्मदशा को पा जाते हैं, जैसे प्रचण्ड अग्नि के संयोग से सुवर्णधातु (सोना) पाषाणमिश्रित अपने पूर्वरूप को छोड़ कर चमकीला रूप पा जाता है ।

१४-दूसरा दूत

आचार्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी को बता रहे हैं कि श्रावक अरणक ध्यान में लीन हो गये थे। इस प्रकार के भयङ्कर दृश्य को दिखाने पर भी जब अरणक भयभीत न हुए तो वह पिशाच चौगुने गुस्से मे भरा हुआ निकट आया और उसे ललकारते हुए कहने लगा.—

"हंभो ! अरहन्नगा ! अपत्थियपत्थिया !.... णो खलु कप्पइ तव सीलव्वयगुणवेरमण–पच्चक्खाणपोसहोववसाइं चालित्तए वा " तं जइ णं तुमं सीलव्वय०....न परिच्चयसि तो णं अहं पोयवहणं दोहिं अंगुलियाहिं गेण्हामि " अंतो जलंसि.... ॥"

अर्थात्—अरे ओ अरणक ! तू क्यों मरना चाहता है ? यद्यपि तुझे अपने स्वीकृत व्रतों से विचलित होना नहीं कल्पता है, किन्तु यदि तू अपने व्रतो से विचलित न होगा तो जानता है तेरी क्या दशा होगी ? मैं इस जहाज को दो उँगलियो पर उठा कर सात-आठ ताड़ के झाड के बराबर ऊँचा ले जाऊँगा और फिर इस अथाह समुद्र मे पटक दूंगा ! इससे तू आर्त्तध्यान करता हुआ अकाल ही में जीवन से हाथ धो बैठेगा !"

यहाँ शुरू में ही पिशाच ने जो यह कहा कि "तुझे व्रतों से चलित होना नहीं कल्पता है" इससे मालूम होता है कि वास्तव मे

वह कोई देव है, जो पिशाच का रूप धारण करके श्रावक अरणक की परीक्षा करने आया है, अन्यथा उसके मुँह से ऐसा वाक्य न निकलता। यह तो ठीक वैसा ही है, जैसा किसी दीक्षार्थी को रोकने के लिए उसके समझदार कुटुम्बी संयमी-जीवन की कठिनाइयाँ बताते हैं, पर संयमी-जीवन को बुरा नहीं कहते!

हाँ, तो पिशाच की वैसी बाते सुन कर सांयात्रिको की दृष्टि श्रावक अरणक पर जम गई। वे सब गिड़गिड़ा कर उससे प्रार्थना करने लगे:—"मान भी लो भाई! थोड़ी देर के लिए सामायिक छोड दो। धर्म को झूठा कह देने से धर्म झूठा हो नहीं जाता, फिर झूठा कह देने में हरकत क्या है? कह दो "धर्म झूठा है" और छोड दो थोडी देर के लिए सामायिक। उपद्रव शान्त होने के बाद फिर भले ही दिन रात सामायिक मे ही बैठे रहना! हम लोग इन्कार नहीं करेगे, परन्तु अभी तो इस पिशाच की बात मान लो और हमारे प्राण बचाओ! यदि यह पिशाच सचमुच ऊपर उठा कर जहाज को पटक देगा, तो हम सब समुद्र मे डूब जायँगे और तब तुम भी कहाँ बचोगे?"

इस प्रकार करुण वाक्य सुन कर भी श्रावक अरणक विचलित नहीं हुए। आग में पड कर सोना चिन्ता नहीं करता। इसी प्रकार महापुरुष भी सकटो मे घबराते नहीं, वलिक प्रसन्न होते हैं। किसी कवि ने तो विपत्तियों को निमन्त्रण देते हुए कहा है—

"आओ आओ विपत्तियो आओ।
तुम आके हमकूँ सताओ॥"

श्रावक अरणक भी इस परिस्थिति मे प्रसन्न हो रहे थे। वे समझ रहे थे कि अग्नि, विष, जल आदि शरीर को ही नष्ट कर सकते हैं, आत्मा को नहीं। अन्त में उन्होने अपने उन साथियो से कहा:—

"स्वप्न में भी भय के मारे भीत मैं होता नहीं।
मै तो भय का भी हूँ भय, हा हू मचाना छोड़दो ॥
अग्नि विष-जल-शस्त्र, इनका देह तक सम्बन्ध है।
आत्मा तो अखड अविनाशी है, आगा छोड़ दो ॥
बन्धुओ ! मेरी तरफ की व्यर्थ चिन्ता छोड़ दो ॥"

—'सगीत माधुरी' से

साथियों को इस प्रकार समझाने के बाद मन ही मन उस पिशाच को कहा:—

" तए णं से अरहन्नए समणोवासए तं देवं मणसा चेव एवं वयासी:—अहं णं देवाणुप्पिया ! अरहन्नए नामं समणोवासए अभिगयजीवाजीवे, नो खलु अहं सक्का केणइ देवेण वा दाणवेण वा जाव णिग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा ..... ॥"

अर्थात् हे देवानुप्रिय ! मैं अरणक नामक श्रमणोपासक हूँ। जीव, अजीव आदि तत्त्वो का जानकार हूँ, इसलिए मुझे अपनी धार्मिक श्रद्धा से इन्द्र भी स्वय आ जाय तो डिगा नहीं सकता। फिर तू तो चीज ही क्या है ?

श्रावक के इस मानसिक-उत्तर को जानने पर पिशाच का क्रोध और भी बढ़ गया। अन्त मे वैसी धमकी से भयभीत होते हुए न देख कर अपनी पूर्व-सूचना के अनुसार जहाज को दो उगलियों पर उठा कर बहुत ऊँचे स्थान पर आकाश मे ले गया। फिर अन्तिम कोशिश करते हुए कुछ समझाने और फटकारने के स्वर मे बोल उठा —

"देख, अब भी सँभल जा। हित की सलाह हमेशा कड़वी लगती है। मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसे मान लेने मे ही तेरा हित है, नहीं तो आगे चल कर पछताना पड़ेगा। नीतिकारो ने भी कहा है —

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ॥"

धर्म शरीर से ही होता है। शरीर नहीं तो धर्म कैसे होगा? इसलिए सबसे पहले शरीर की रक्षा करनी चाहिये। आखिर धर्म शरीर के लिए है, धर्म के लिए शरीर नहीं। यह बात अच्छी तरह समझ ले और भोलेपन को छोड कर शरीर को बचाने की कोशिश कर। यदि तूने ऐसा न किया और घमण्ड मे बैठा रहा तो मैं इस जहाज को अपनी उँगलियो से पीस कर समुद्र के अथाह जल में फैंक दूँगा। जानता है उस समय तू कहाँ होगा? अपने साथियों के साथ इन बडे-बड़े मगरमच्छों के पेट मे। अब भी बिगडी को सुधारने का मौका है। सोच ले कि अपना भला किस मे है?"

अरणक श्रावक पर पिशाच की इस वाणी का कोई असर न हुआ। मुस्कुराते हुए दृढता के साथ उन्होने उत्तर दिया —

"भोले पिशाच! किस भ्रम में है तू? बार बार जिसे नष्ट करने की धमकी दे रहा है, वह शरीर तो एक-न-एक दिन नष्ट होने ही वाला है। धन, मकान, प्राण आदि सारी वस्तुएँ क्षणिक हैं; आज है तो कल नहीं। धर्म के कारण ये वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। गेहूँ मे घास भी पैदा हो जाती है, पर घास से गेहूँ नहीं पैदा होते। ठीक इसी प्रकार धर्म से अन्य भौतिक वस्तुओ की प्राप्ति हो सकती है, पर उन वस्तुओ से धर्म नहीं मिल सकता।

"तन छोडूं, धन छोडूं, प्राण कहो तो भी छोडूं।
मण धरम न छोडूं .... ॥"

इसलिए मेरा यह निश्चय है कि मैं धर्म की रक्षा के लिए तन, धन और प्राणों का भी हँसते-हँसते त्याग कर सकता हूँ। धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है, जो कभी नष्ट नहीं होती। शरीर से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं, वह तो अन्त में यहीं जला दिया जायगा!-छूट जायगा! किन्तु धर्म सदा साथ रहेगा। इस लिए हर हालत में मैं धर्म नहीं छोड़ सकता।

"तुमं णं जा सद्धा तं करेहि ॥"

तुम्हे जो करना हो सो कर लो।

इन शब्दों से प्रकट होने वाली श्रावक अरणक की अटूट श्रद्धा को पहिचान लेने पर देव (पिशाच) का अभिमान गल गया। उसने धीरे धीरे जहाज को नीचे उतार कर उसे समुद्र की सतह पर ला छोडा। साथ ही अपनी भयानक आकृति हटा कर असली देव के रूप में प्रकट हुआ। हाथ जोड कर उसने श्रावक अरणक को नमस्कार किया और फिर कहा—"धन्नोसि णं देवाणुप्पिया!... अभिसमण्णागया ॥" अर्थात् धन्य है श्रावकजी! आपका जन्म सफल है। धर्म समझने का यही सार है कि मनुष्य निर्भय बने। उसे आत्मशक्ति का भान हो। एक दिन स्वयं इन्द्र अपनी विराट् देवसभा में आपकी अटूट श्रद्धा और दृढता की तारीफ कर रहे थे। उन्होंने यहाँ तक कह दिया था सारे देवता मिल कर भी श्रावक अरणक को धर्म से डिगाना चाहो तो नहीं डिगा सकोगे! उनकी इस बात पर मुझे विश्वास नहीं हुआ। मैंने सोचा—ये बडे लोग हैं जो गप्प हाँकने मे भी प्राय: बड़े ही होते है। मुझे इन्द्र के इस वचन की सचाई की जाँच करनी चाहिए। अन्त में मैंने यहाँ आकर आपकी परीक्षा लेने के ही लिए यह सब-कुछ भयानक दृश्य बनाया था। आप पूरी तरह सफल हुए। मैंने आपको जो कष्ट दिया, उसके लिए क्षमा चाहता हूँ। बताइये! मैं आपकी क्या सेवा करूँ?"

श्रावक अरणक ने कहा:—"जहाँ धर्म है, वहाँ सब कुछ है। जहाँ धर्म नहीं, वहाँ कुछ नहीं है। मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है।"

यह सुन कर वह देव और अधिक प्रसन्न हुआ और दो कुण्डलों की जोड़ियाँ उन्हे भेंट करते हुए चरणो में प्रणाम करके जिस दिशा से आया था उसी दिशा मे लौट गया।

" तए णं से अरहन्नए णिरुवसग्गमिति कट्टु पडिमं पारेइ······॥ "

इधर उपसर्ग को शान्त हो गया जान कर अरणक ने सामायिक पार ली। धीरे-धीरे जहाज किनारे आ लगा। यहाँ मिथिला नगरी थी। सांयात्रिकों ने जहाज से सामान गाड़ियो में भरा और नगर के बाहर उद्यान मे अपना डेरा जमाया।

दूसरे दिन भोजनादि से निवृत्त हो कर अपने कुछ मित्रो के साथ श्रावक अरणक (देव से मिली हुई कुन्डलो की दो जोड़ियों में से) एक कुन्डल जोडी की भेंट राजा कुम्भ को देने तथा व्यापार की स्वीकृति लेने की दृष्टि से राजमहल में आये। चमकते हुए सुन्दर कुन्डल भेंट पा कर राजा कुम्भ काफी प्रसन्न हुए और मल्लीकुमारी को बुला कर अपने हाथो से उसके कानों मे पहिना दिये। इधर अपने कोष से बहुत-सा धन देकर आदरसहित अरणक आदि व्यापारियो को विदा किया।

राजमहल से लौट कर मिथिला मे अपना द्रव्य बेच दिया और दूसरी सामग्री वहाँ से खरीद कर जहाज मे भर कर चम्पा--नगरी की ओर रवाना हुए। यहाँ अपने देश के महाराज चन्द्रच्छाय के पास राजमहल मे पहुँचे और बची हुई दूसरी एक कुन्डलों की

स्वर्णकारो (कलाकारों) को बुला कर कह दिया कि पाँचों रंग के चाँवलों से मण्डप मे भाँति--भाँति की रचनाएँ करो । आज्ञानुसार सारी व्यवस्था हो गई ।

दूसरे दिन हाथी पर सवार होकर महाराज रूपी अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ अपने दर्शनो से नागरिको को संतुष्ट करते हुए महोत्सव के लिए बनाये गये मण्डप के पास पहुँचे । फिर हाथी से नीचे उतर कर मण्डप मे प्रवेश किया और उसके बीच में रखे हुए सिंहासन पर बैठ गये । सभी राजदरबारी, अंगरक्षक, दास-दासी, मन्त्री वर्षधर आदि अपने अपने स्थान पर बैठ गये । मडप की शोभा का निरीक्षण करके महाराज बहुत-बहुत प्रसन्न हो रहे थे ।

इधर राजकन्या सुबाहु को भी सोने और चाँदी के कलशों से स्नान कराया गया और वस्त्राभूषण से सुसज्जित करके वह सभा में उपस्थित की गई । इस समय सुबाहु का सौन्दर्य पहले से भी बढ़ गया था । सभा मे उपस्थित सभी नर-नारियों की दृष्टि राजकन्या पर पडी । उसकी सुन्दरता को देख कर सब लोग काफ़ी प्रसन्न हो रहे थे । राजकन्या ने अपने पिताजी के चरणों में प्रणाम किया । महाराज ने वात्सल्य से उसे अपनी गोदी मे बिठा लिया । और उसके हाथों मे "श्रीदामगण्ड" दे दिया ।

इस समय महाराज को जितना हर्ष हो रहा था, उससे अधिक गर्व (घमण्ड) हो रहा था । वे सोच रहे थे कि मुझ से बढ़ कर सौभाग्यशाली दुनियाँ मे कौन होगा !

सज्जनो ! तुलसीदासजी कहते हैं.—

" दया धर्म का मूल है, पाप-मूल अभिमान ॥ "

जैसे धर्म का मूल कारण दया है, वैसे ही पाप का मूल कारण अभिमान है । रावण में अनेक गुण थे, पर एक अभिमान

के कारण उसको सोने की लंका जला दी गई। सुनते है, सहस्रबाहु (हजार हाथ वाला) जैसा पराक्रमी व्यक्ति भी अहंकार के कारण मारा गया। जिस सम्पत्ति का अभिमान किया जाता है, मरने के बाद उसे यहीं छोड़ कर खाली हाथ जाना पड़ता है। ये भाव कवि के शब्दों में इस प्रकार हैं -

> " सहसबाहु दसबदन आदि नृप बचे न काल बली ते।
> 'हम-हम करि धन धाम सँवारे अन्त चले उठि रीते ॥ "
>
> —तुलसीदास

बडे-बडे सम्राट्, पराक्रमी, ऐश्वर्य-सम्पन्न, लब्धिधारी, चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव आदि भी अन्त मे खाली हाथ चले गये। जिस सिकन्दर को सारी पृथ्वी भी छोटी मालूम होती थी, उसके लिए साढ़े तीन हाथ जमीन ही अन्त में काफी हुई। सब कुछ यहीं छोड जाना पडा। इसलिए बल, ऐश्वर्य का घमण्ड बेकार है। सूत्रकारो ने घमण्ड के आठ कारण बताये हैं:—

"पडिक्कमामि अट्ठहिं मयट्ठाणेहि—जाइमएणं, कुल-मएणं, बलमएण, रूवमएणं, तवमएणं, लाभमएणं, सुयमएणं, ईसरियमएणं ॥"

अर्थात् जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, श्रुत और ऐश्वर्य—इन आठ कारणो से पैदा होने वाले घमण्ड से मै पीछे हटता हूँ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विवेकी मनुष्य जाति, कुल आदि अच्छी बातो के घमण्ड को भी बुरा समझते हैं। किन्तु आश्चर्य और खेद की बात तो यह है कि कुछ मनुष्य ऐसे भी अविवेकी हुए हैं—होते हैं कि जो हिंसा आदि पाप करके भी घमंड

करते हैं। उदाहरण के तौर पर महाराज श्रेणिक के जीवन की ए घटना सुनाता हूँ:—

एक दिन महाराज श्रेणिक कुछ सुभटों को साथ लेव शिकार खेलने गये। बहुत देर तक जंगल में भटकने पर भी उन्हे कोई शिकार न मिला—इससे सारे सुभट निराश हो गये, किन्तु महाराज श्रेणिक को अब भी शिकार मिलने की पूरी आशा थी। किन्तु उस दिन काफी देर हो जाने से उन्हे क्रोध आ रहा था, वे घोड़े को इधर-उधर दौडाते हुए खूब तीखी नजर से चारो दिशाओ में दूर-दूर तक देख रहे थे। इतने मे सहसा उनकी नजर एक हरिण पर पडी, जो काफी दूर खडा था। बीच मे ताड के सात झाड खड़े थे, किन्तु क्रोधान्ध राजा को वे दिखाई न दिये। उन्होंने तुरन्त अपने तरकश से एक तीर निकाला धनुष पर चढाया और प्रत्यञ्चा को कान तक खीच कर पूरी शक्ति से हरिण पर तीर छोड़ दिया। धनुप से छूटा हुआ तीर सातो ताड के झाडों को वेध कर हरिण के शरीर मे जा घुसा। घायल हरिण को सुभट उठा लाये। उसे देख कर तथा बीच मे गिरे हुए सात ताड के झाडों को देख कर राजा को अपने भुज-बल पर घमण्ड हुआ। वे सोचने लगे कि मुझ से बढ़ कर शक्ति शाली कौन होगा ? कथा-कार का कहना है कि हिंसा करके घमण्ड करने से महाराज श्रेणिक को नरक गति का बन्ध हो गया था।

ऐसो ही एक घटना राजस्थान की भो सुनने में आई है। एक राजा के यहां दशहरे के दिन कुछ जँवाई आये। उन मे परस्पर होड लग गई कि कौन अपनी शक्ति का विशेष चमत्कार दिखा सकता है। सबने भैंसो पर अपने-अपने प्रयोग किये। उनमें से एक ने कहा कि एक भैंसे के गले मे दो तवे (रोटी सेकने के लोहे के वर्त्तन) बाँध दिये जायँ, फिर मै अपनी शक्ति का चमत्कार

ेखाता हूँ। आखिर वैसा ही किया गया और उसने अपनी खड्ग उठा कर उस बेचारे मूक प्राणी के प्राण उड़ा दिये। इसके बाद सफलता के घमण्ड से सिर ऊँचा करके अपने साथियों की ओर देखा।

ऐसी अनेक घटनाएँ मिल सकती हैं, कि जिनमे पापियों ने हिंसा करके घमण्ड भी किया हो। धार्मिक-दृष्टि से यदि जरा-सा विचार किया जाय तो हमे मालूम होगा कि पहले तो हिंसा क्रूरता से होती है, रौद्रध्यान से होती है। क्रूरता और रौद्रध्यान स्वयं पाप हैं। इसके बाद हिंसा का दूसरा पाप और उस पर भी घमण्ड करके तीसरा पाप किया जाता है। जो हमें बताता है कि यदि किसी को नरक जाना हो तो उसकी सीधी सड़क यही है। अस्तु।

यहा कुणालाधिपति रूपी को जो घमण्ड हो रहा है, वह भी लगभग वैसा ही है। यहाँ राजा को दो प्रकार का घमण्ड हो रहा है। पहला है, महोत्सव के लिए सजाये हुए मण्डप का, जिसमें नाना प्रकार के पुष्पों का तुडवा कर वनस्पतिकाय को व्यर्थ ही हिंसा की गई थी।

विचारक कहते हैं कि पहले तो पाप ही न करना और यदि कभी जाने-अनजाने पाप हो जाय तो उसके लिए पश्चात्ताप करना, लज्जित होना या प्रायश्चित्त करके शुद्ध होना चाहिए। पर घमण्ड तो बिल्कुल नहीं करना चाहिए। पाप करके घमण्ड करना, ऐसी भूल है कि जिसे मूर्खता भी कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। राजा रूपी भी यहां ऐसी ही मूर्खता कर रहा है।

दूसरा घमण्ड है, राजकन्या के सौन्दर्य का, जिसे सूत्रकारों ने "रूवमएणं" शब्द से प्रकट किया है। राजकन्या सुबाहु के सौन्दर्य से हर्षित, विस्मित और गर्वित होकर उसने अपने मन्त्री वर्षधर से कहा:—

"तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! मम दोच्चेणं बहूणि गामागरगिहाणि एरसिए मज्जणए दिट्ठे पुव्वे, जारिसए इमीसे सुबाहुदारियाए... ॥"

अर्थात्—हे देवानुप्रिय ! राजकार्य से दूत के रूप मे तुम्हें बहुत-से नगरो मे जाने का मौका मिला है, इसलिए पूछता हूँ कि पहले किसी राजा के यहाँ ऐसा स्नानमहोत्सव का मण्डप और ऐसी सुन्दर बालिका तुम्हारे देखने में आई है ?"

"तए णं से वरिसधरे रुप्पिरायं करयल जाव एवं वयासी:—एवं खलु सामी ! अहं अन्नया कयाइं... कुम्भगस्स रण्णो धूयाए पभावतीए देवीए अत्तयाए मल्लीए विदेहरायवर–कन्नगाए......... ॥"

इसके बाद वह वर्षधर हाथ जोड कर यों बोला:—"स्वामिन् ! एक बार दूत बन कर मैं मिथिला गया था । वहाँ महाराज कुम्भ की कन्या और महारानी प्रभावती को आत्मजा (पुत्री) मल्लीकुमारी का स्नान-महोत्सव मनाया जा रहा था । राजन् ! उस कन्या के सौन्दर्य की तुलना मे सुबाहु का सौन्दर्य लाखवें हिस्से के बराबर भी नही है ।"

यह सुन कर रूपी का अभिमान तो हट गया, पर उसकी जगह दूसरा वासना का भूत सवार हो गया । तुरन्त ही उसने एक दूत को बुला कर मल्लीकुमारी की याचना के लिए समझा-बुझा कर मिथिला भेज दिया ।

१६-चौथा दूत

सज्जनो !

आचार्य सुधर्मा स्वामी अपने सुशिष्य जम्बू स्वामी को "णाया धम्मकहा" के आठवें अध्ययन का अर्थ समझाते हुए कह रहे हैं कि महाराज कुम्भ के पास मिथिला मे तीन राजाओं के अलग-अलग तीन दूत पहुंच चुके हैं।

"तेणं कालेणं तेणं समएणं........॥"

अर्थात्—उस काल और उसी समय मे काशीदेश मे बनारस नामक शहर था। महाराज शंख उसके शासक थे।

"तए णं तीसे मल्लीए विदेहराय—वरकएणाए अन्नया कयाइं तस्स "सुवएणगारसेणीं सद्दावेइ "तुब्भेणं देवा-णुप्पिया ! इमस्स........॥"

उधर मल्लीकुमारी के कानो का एक कुण्डल टूट गया। राजा कुम्भ ने तुरन्त मिथिला के अच्छे-अच्छे स्वर्णकारों को बुलाया और वह कुण्डल देते हुए कहा कि "ये टुकड़े जोड़ दो।" स्वामी का यह आदेश पाकर स्वर्णकार प्रसन्न हुए और कुण्डल के टुकड़े उठा कर अपने स्थान पर लौट आये।

यहाँ एक सवाल उठाया जा सकता है कि देवलोक की वस्तुएँ शाश्वत होती हैं। यह कुण्डल भी यदि किसी देव के दिये हुए होने से देवलोक के है, तो फिर टूट कैसे गये ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि वे कुण्डल श्रावक अरणक को दिये तो

देव ने ही थे, पर वह उन्हे देवलोक से नहीं लाया था। देवों को देव लोक की वस्तुएँ भोगने का ही अधिकार होता है; किसी मनुष्य को वहा की वस्तुएं वे दे नहीं सकते। फिर देवलोक की वस्तुए मर्यादित क्षेत्र के बाहर ले जाई भी नही जा सकतीं ऐसा नियम है। इस प्रकार से समाधान होने के पहले ही एक सवाल फिर अपना सिर उठाता है कि यदि वह देव कुन्डलयुगल देवलोक से नहीं ला सकता था, इस लिए नहीं लाया था, तो फिर आखिर लाया कहाँ से था ? क्या चोरी करके लाया था ? सवाल काफी प्रबल है, किन्तु इसका समाधान मैंने अपने गुरुदेव के श्रीमुख से सुना है कि किसी व्यक्ति की धार्मिक दृढ़ता को देख कर यदि कोई देव कुछ देना चाहे तो इन्द्र की आज्ञा से वह जमीन आदि मे गडा हुआ, सिर्फ वही धन निकाल कर ला सकता है कि सात पीढी तक जिसका कोई मालिक न बना हो। देवों को अवधिज्ञान होता है, इसलिए वे जमीन मे द्रव्य कहाँ गड़ा है ? यह बखूबी जान सकते हैं। वार्षिक-दान के अवसर पर तीर्थंकरों के भण्डार भी इसी प्रकार के लाये हुए धन से देव भरते हैं। अस्तु।

स्वर्णकारो ने घर पर खूब प्रयत्न किया, किन्तु टूटा कुण्डल जोडने मे उन्हे कोई सफलता न मिली। इससे निराश होकर वे महलो मे पहुँचे और हाथ जोड़ कर महाराज कुम्भ से कहने लगे:-

" एवं खलु !······णो संचाएमो संघडित्तए। ततेणं अम्हे सामी ! एयस्स दिव्वस्स कुंडलजुयलस्स अन्नं सरिसयं कुंडलजुयलं घडेमो ॥ "

अर्थात् हे स्वामिन् ! कुन्डल की सन्धि हम से काफी प्रयत्न करने पर भी हो नहीं सकी। इसके लिए हम स्वयं लज्जित हैं कि इस वार हमे आपकी सेवा मे सफलता नही मिल पाई। अब यदि

आप की आज्ञा हो तो, हम ऐसी ही एक नई कुण्डलजोड़ी बना कर सेवा में हाजिर कर सकते हैं।

" तए णं से कुम्भराया तीसे सुवण्णगारसेणीए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्मआसुरत्ते तिवलियं ······ सुवण्णगारा णिव्विसए आणवेति ॥ "

स्वर्णकारो की बात सुन कर राजा को क्रोध आ गया। ललोट पर तीन सल चढ गये। भौंहे तान कर उसने कहा.—"इतने वर्षो से तुम यहाँ रहते हो व्यापार करते हो, अनुभवी हो और फिर भी यह छोटा सा काम तुम से न हो सका ? तुम ने अपनी कला में क्या उन्नति की ? तुम जैसे जडबुद्धि लोगो के लिए मेरे राज्य मे कोई स्थान नहीं। जाओ ! चले जाओ ! कहीं दूर जा बसो।"

इस प्रकार देश निकाला दे दिये जाने पर वे सब स्वर्णकार अपने-अपने घर लौट आये और सारा सामान लेकर सकुटुम्ब वनारस शहर मे चले आये।

कहा जा चुका है कि महाराज शंख बनारस के शासक थे। आगन्तुक स्वर्णकार महाराज के पास राजमहल मे पहुँचे और बहुमूल्य उपहार भेट दिया।

उपहार स्वीकार करते हुए महाराज ने पूछा:—आप लोग कौन हैं ? कहाँ रहते हैं ? यहाँ किस प्रयोजन से आये है ?

इस पर उन स्वर्णकारो मे से एक वृद्ध स्वर्णकार ने उत्तर दिया —

"अम्हे णं सामी ! मिहिलाओ णं णयरीओ कुंभएणं रण्णा णिव्विसया····इहं हव्वमागया, तं इच्छामो णं सामी !

तुब्भं बाहुच्छाया ......णिब्भया णिरुव्विग्गा सुहं सुहेणं परिवसियं ॥"

"हम लोग स्वर्णकार है। मिथिला मे रहते थे। वहाँ के महाराज कुम्भ ने हमे देश-निकाला दे दिया, इसलिए अब हम आपकी शरण आये है। आपके भुजबल से सुरक्षित रह कर हम लोग निर्भयता और निश्चिन्तता से व्यापार करते हुए सुखपूर्वक अपना आयुष्य बिताना चाहते हैं।"

इस पर राजा ने पूछा.—"तुम्हे महाराज कुम्भ ने किस कारण से देश-निकाला दिया है ?" इस पर स्वर्णकार बोले:—

"एवं खलु सामी ! कुंभस्स रण्णो धूया पभावतीए देवीए अत्तए मल्लीए विदेहरायवरकण्णाए कुंडलस्स०...॥"

"बात यह हुई स्वामिन् ! कि एक बार महाराज कुम्भ की सुन्दर कन्या मल्लीकुमारी के कानो के कुण्डल टूट गये। राजा ने हमे बुला कर ठीक करने की आज्ञा दी। इस पर हमने उस टूटे हुए कुण्डल को साँधने का खूब प्रयत्न किया। पूरा-पूरा परिश्रम कर चुकने पर भी जब हमे असफलता हुई और वह जोडी जुड न सकी तो राजा कुम्भ ने हमे अयोग्य समझ कर खूब फटकार बताई और एकदम क्रुद्ध होकर देश-निकाला दे दिया। अब आपकी आज्ञा हो तो यहाँ बस कर हम अपना धन्धा चालू करे ! अन्यथा और कहीं पहुँचेंगे।"

महाराज शख ने उन्हे आश्वासन देते हुए कहा·—"स्वर्णकारो ! घबराने की जरूरत नहीं। तुम खुशी से यहाँ रह कर अपना धन्धा कर सकते हो।" फिर कहा —

"केरिसिया णं देवाणुप्पिया ! कुंभस्स रण्णो धूया.... ॥"

"लेकिन यह तो बताओ कि वह राजकन्या मल्लीकुमारी कैसी है ?"

इस पर स्वर्णकारोने कहा'—

"नो खलु सामी ! अन्ना काइ तारिसिया देवकन्ना वा गंधव्वकन्ना वा जाव जारिसिया णं मल्ली विदेहरायवर-कन्ना ॥"

"राजन् ! मल्लीकुमारी के सौन्दर्य की समानता मे देवकन्या या कोई गन्धर्वकन्या भी नही ठहर सकती । बस, इतने में समझ लीजिये !"

यह सुन कर राजा ने स्वर्णकारो को आदर-सहित विदा किया । उपर्युक्त घटना से उसके मन मे अनेक विचार उठने लगे । "यदि स्वर्णकार उन टूटे हुए कुण्डलों को जोड न सके, प्रयत्न करने पर भी वे असफल रहे तो उन्होने पाप क्या किया ? अपनी शक्ति और योग्यता से बढ़ कर काम करने वाले तो दुनियाँ मे कोई हो ही नहीं सकते ! तो क्या इसी लिए सारे मनुष्य अपराधी समझ लिये जाय ? ऐसे समय मे काम करने वालो के बदले काम सौंपने वाले ही अपराधी समझे जाने योग्य हैं, जो कर्मचारियों को उनकी सामर्थ्य के ऊपर काम सौप देते है । श्रावक प्रतिक्रमण के अतिचारो मे "अइभारे" (अर्थात् "अधिक बोझ लादा हो") इस पद से इसी अपराध की आलोचना की गई है । इस प्रकार महाराज कुम्भ ने जहाँ शक्ति से अधिक कार्य सौंपने का पहला अपराध किया है, वहां विना विचारे देश-निकाले का कठोर दण्ड देकर दूसरा अप-राध भी कर डाला है और यह दूसरा अपराध पहले अपराध से भी प्रबल है । सूत्रकारों ने जैन मुनियों के लिए ऐसा विधान बना रक्खा है कि यदि कोई आचार्य अपराध की जाँच किये विना ही अपने

शिष्य को दण्ड दे दें, तो उन्हे दूना दण्ड लेकर उसका प्रायश्चि
करना चाहिए। यह विधान बतलाता हैं कि दण्ड देने वालों क
कितनी सतर्कता और सावधानी से काम लेना चाहिए।"

इस प्रकार सोचते-सोचते उसका ध्यान कुण्डलों की ओ
गया —"आखिर इतने वृद्ध और वर्षों के अनुभवो स्वर्णकार भ
जिन कुण्डलों को जोड़ न सके, वे कुण्डल कितने सुन्दर होंगे
और उन कुण्डलों को पहनने वाली के सौन्दर्य को तो कल्पना भ
क्या की जाय ? तभी तो स्वर्णकार कह रहे थे कि देवकन्या भ
उसके सामने खडी नहीं हो सकती। ऐसो सुन्दर कन्या को यदि
पा जाऊँ तो जीवन कितना आनन्दमय बन जाय। उसे पाये बिन
यह राज्य ऋद्धि-समृद्धि का सुख भी तुच्छ है।

इस प्रकार महाराज शख के मन मे वासना का अकुर फू
निकला। वासना बड़े-बडे समझदारों को भी भटका देती है
जैसा कि किसी कवि ने कहा है.—

"मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, नैकशय्यासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो, विद्वान्समपि कर्षति ॥"

—मनुस्मृति

अर्थात् माता, बहिन और पुत्री के साथ भी एक शय्या औ
आसन पर नहीं बैठना चाहिये, क्योंकि इन्द्रियाँ काफी बलवा
होती हैं, वे विद्वान् को भी अपनी ओर आकृष्ट कर सकती हैं
जैनाचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है —

"चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं ॥"

अर्थात सोलह शृङ्गार से सजी हुई नारी का यदि चित्र भ
किसी दीवार पर अकित हो तो उसे (चित्र को) ब्रह्मचारी न
देखे। स्त्रीकथा का भी निषेध किया गया है—इतना कड़ा विधा

बनाने का कारण यही है कि राख मे छिपे अंगारों की भांति जरा सा वाह्य-निमित्त पाते ही वासना भड़क उठती है। स्त्री के सौन्दर्य को टकटकी लगा कर देखना या उसके सौन्दर्य की चर्चा सुनना ऐसे ही निमित्त हैं। यहाँ महाराज शंख भी मल्ली के सौन्दर्य की चर्चा सुन कर बेचैन हो गये हैं। उन्हें राज्यसुख भी फीका लगने लगा है। विचारकों ने विषय को विष से भी भयंकर माना है। एक कवि के शब्द ये हैं.—

"विषस्य विषयाणां हि, दृश्यते महदन्तरम्।
उपभुक्तं विषं हन्ति, विषयाः स्मरणादपि ॥"

विष (जहर) और विषय (कुवासना) में काफी अन्तर है। क्योंकि विष तो खाने पर ही मारता है, पर विषय तो स्मरण मात्र से पीडा देने वाले हैं। दूसरी बात यह भी है कि विष जहाँ केवल शरीर को ही नष्ट करता है, वहाँ विषय मन को प्रभावित करता है, भावों को कलुषित करता है। इस प्रकार जहाँ मन अशान्त हो, वहाँ जीवन में सुख नहीं रह सकता।

" तए णं से संखे राया ··· ·· ॥ "

महाराज शंख ने अपनी बेचैनी दूर करने के लिए तुरन्त ही एक दूत को बुला कर आज्ञा दी —

"मिथिला नगरी में जाकर महाराज कुम्भ से कहो कि हमारे महाराज शंख आपकी कन्या से शादी करके उसे सन्मान पूर्वक अपनी पटरानी बनाना चाहते हैं, इसके लिए आपकी स्वीकृति पाने के लिए वे काफी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

महाराज शंख का सन्देश लेकर दूत कुछ सैनिकों को साथ मिथिला की ओर रवाना हो गया।

१७-पांचवां दूत

सज्जनो !

आचार्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी को "णाया धम्मकहा" के आठवें अध्ययन का अर्थ बताते हुए कह रहे हैं कि मिथिला के महाराज कुम्भ की राजकन्या मल्लीकुमारी की याचना करने के लिए अलग-अलग देशों से चार दूत रवाना हो चुके हैं।

"तेणं कालेणं तेणं समएणं कुरुजणवए .....॥"

इस काल और उसी समय में कुरुदेश के हस्तिनापुर नगर में अदीनशत्रु नामक राजा राज्य करते थे।

"तत्थ णं मिहिलाए कुंभगस्स पुत्ते .. .. ॥"

उधर मिथिला में महाराज कुम्भ के यहाँ मल्लीकुमारी के बाद एक पुत्र ने जन्म लिया। यह भी मल्लीकुमारी के समान ही सुन्दर और तेजस्वी था, इसलिए उसका नाम "मल्लदिन्न" रख दिया गया। धीरे-धीरे मल्लदिन्न कुमार [illegible] पढ़ते-लिखते जवान हो गये। राज्य तो महाराज कुम्भ सम्हालते ही थे, इसलिए कुमार का समय मनोरंजन और भोगविलास में बीतने लगा।

एक दिन कुमार ने अपने प्रमदवन (वाटिका) में सुन्दर चित्रों के लिए एक नया भवन बनवाया और नगर के अच्छे-अच्छे चित्रकारों को बुला कर कहा कि इस भवन के भीतर दीवारों पर वे अपनी-अपनी कला का चमत्कार दिखायें। आज्ञा पाते ही चित्र-

कार उस भवन मे अपनी तूलिका आदि सामग्री लेकर पहुँचे और अपना अपना स्थान निश्चित करके उसमें सुन्दर से सुन्दर चित्र निकालने मे जुट गये। पुराने ज़माने में एक से एक बढ़ कर चित्र-कला के विशेषज्ञ हो गये है। वे अपनी अद्भुत कला से दर्शको को मुग्ध कर देते थे। एक ऐसे ही विशेप चित्रकार की घटना मुझे याद आ रही है, जिसने एक राजा को मुग्ध करके सब से अधिक इनाम पाया था। घटना इस प्रकार है.—

एक राजा ने अपनी वाटिका मे एक नया भवन बनवाया और उसमें नगर के नामी चित्रकारों को बुला कर अच्छे से अच्छे चित्र बनाने के लिए उन्हे नियुक्त कर दिया'। चित्रकार कुल दस थे, जिनमे से एक चित्रकार अधिक वृद्ध और अनुभवी था। राजा की आज्ञा पाते ही सब उस भवन में पहुंचे और अपना-अपना स्थान निश्चित करके चित्र बनाने लगे। सब का वेतन भी निश्चित कर दिया गया था, इसलिए प्रतिदिन ठीक समय पर आते और काम करके चले जाते। हाँ, जाते समय वे परस्पर एक-दूसरे के कार्य का निरीक्षण भी करते थे कि किसने आज क्या किया ? कैसा किया ?

होते होते तीन महीने बीत गये। सभी चित्रकारों का आधा काम पूरा हो गया था। किन्तु उस वृद्ध चित्रकार की तूलिका अब तक रंग मे नहीं डूबी थी, वह दीवार साफ करने के लिए पालिश तैयार करने में ही लगा था। वेतन तो उसे भी मिलता ही था, पर काम कुछ दिखाई न देने से शेष नौ चित्रकार उससे जलने लगे। सब मिल कर उसे ताने देते और हँसी उड़ाते। किन्तु वृद्ध शान्त रहता और उनके व्यग्य-वचनों की पर्वाह न करके सदा अपने काम मे लगा रहता था। उसने अपनी दीवार के सामने एक पर्दा भी लगा दिया था। जिससे अन्य चित्रकार समझने लगते कि "उसने कल कुछ नहीं किया, पर आज तो जरूर कुछ कर रहा होगा !"

और फिर ज्यो ही शाम को जाते समय उसकी दीवार पर नजर डालते और उसे खाली-खट्ट देखते कि निराशा ही उनके पल्ले पड़ती।

राजा ने छह महीने की अवधि दी थी। वृद्ध की पालिश पाच महीने मे तैयार हो गई थी, इस लिए छठे महीने में उसने दीवार पर पालिश चढाना शुरू किया। छठे महीने की समाप्ति के साथ ही उसका पालिश चढाने का कार्य भी समाप्त हो गया। किन्तु अब भी दीवार खाली थी। इधर राजा भी चित्रकारों की कला देखने चले आये। बारी-बारी से ६ चित्रकारो की रचनाओं का अवलोकन करते और उनकी तारीफ करते हुए वे वृद्ध के स्थान पर पहुँचे तो खाली स्थान देख कर उन्हे क्रोध आ गया। वे बोले —"क्योजी छह महीनो से तुम राजकीय कोप से वेतन पा रहे हो, पर चित्र के नाम से एक रेखा भी अब तक तुम से खींचते न बनी ?" इस पर वृद्ध ने विनय से उत्तर दिया—" हुजूर ! मैं कभी खाली नहीं बैठा।" राजा ने कह —"तो किया भी क्या है ? बता !" वृद्ध चित्रकार ने कहा —"हाँ, यह पूछिये कि मैंने क्या किया ? चलिये, अपनी कला दिखाता हूँ। जो कार्य इन सबने मिल कर किया है, ठीक उतना ही कार्य मैंने अकेले ने किया है !"

राजा को वृद्ध के वचनो पर सहसा अविश्वास नहीं हुआ। उत्सुकता मे वृद्ध की कला देखने के लिए वह चल पडा। वृद्ध ने अपनी पालिश चढी दीवार के सामने का पर्दा ज्यो ही हटाया, त्यों ही अन्य चित्रकारों के सभी चित्रो का उसमें प्रतिबिम्ब दिखाई देने लगा। इस से प्रसन्न होकर राजा ने उसे सब से अधिक इनाम देकर विदा किया।

इस घटना से वृद्ध चित्रकार की दूरदर्शिता और चातुर्य का अच्छा परिचय मिलता है। मल्लदिन्न की आज्ञा से काम करने वाले चित्रकारों मे भी एक लब्धि-सम्पन्न चित्रकार था, जो किसी

प्राणी, व्यक्ति या वस्तु के अंश को देखने मात्र से पूर्ण चित्र निकाल सकता था। किन्तु उस वृद्ध चित्रकार के समान इसमें दूरदर्शिता नहीं थी—यह बात आगे के वर्णन से प्रकट होने वाली है।

लब्धिधारी चित्रकार को एक दिन किसी प्रकार पर्दे के नीचे से मल्लीकुमारी के पैर का अंगूठा दिखाई दिया था। अंगूठे के देखने से उस कन्या के सम्पूर्ण सौन्दर्य की झाँकी स्पष्ट दिखाई देने लगी थी। इसलिए इस प्रसंग पर:—

"तस्स चित्तगरस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पजित्था, सेयं खलु ममं मल्लीए विदेहरायवरकण्णाए पायंगुट्ठाणुसारेणं सरिसगं जाव गुणोववेयं रूवं णिवत्तिए॥"

उस चित्रकार के मन मे यह विचार उठा कि पैर के अगूठे के अनुसार मल्लीकुमारी का चित्र ही क्यो न अंकित कर दूं? यही ठीक रहेगा। ऐसा सोच कर उसने पूरी सावधानी से मल्लीकुमारी का चित्र उस चित्र सभा की दीवार में एक जगह निकाल दिया। दूसरे चित्रकारों ने भी हावभाव पूर्ण अनेक आकर्षक चित्र खींचे थे। कार्य समाप्त होने पर सब लोग राजकुमार के पास आये। राजकुमार ने भी बहुत-सा धन देकर उन सब को सत्कार के साथ विदा किया।

सज्जनो! चित्रकला आज भी जीवित है, केमरे के आविष्कार से उसमें काफी उन्नति भी हुई है, फिर भी वह विशेषता नहीं रही, जो पुराने चित्रकारो मे थी। पहले के लब्धिधारी चित्रकारों की बात छोड भी दी जाय, फिर भी अन्य चित्रकारो की तुलना मे आज के चित्रकार नहीं ठहर सकते। वे लोग सिर्फ तूलिका

और रंगों की सहायता से हूबहू चित्र निकाल सकते थे, किन्तु आज स्कूलों मे चित्रकला के शिक्षक भी बिना स्केल (फुटपट्टी) की सहायता से एक सीधी लकीर तक नहीं खींच सकते। इससे सिद्ध होता है कि जिसे हम सहूलियत कहते हैं, वह असल में साधनों की गुलामी है। हवाईजहाज, मोटर, रेल और साइकल के आविष्कारों ने हमे पगु बना दिया है। जो इनका उपयोग करते हैं, वे दो मील पैदल नही चल सकते। मील भर भी चलना पडे तो हाँफने लगेंगे। कैसी विचित्र गुलामी है। भगवान् महावीर के श्रमण हजारो वर्षों से पैदल चलते आये हैं, आज भी चलते हैं। पैदल चलने में अनेक लाभ हैं--यह देखकर आज सन्त विनोबा और उनके अनुयोयी भी पैदल चलने लगे हैं। इस विषय में अधिक विचार अप्रांसगिक होगा। इसलिए इसे यहीं छोड कर प्रस्तुत विषय पर आता हूं।

"तए णं से मल्लिदिन्नकुमारे अन्नया कयाइं ण्हाए अंते-उरपरिवार–सद्धिं संपरिवुडे अम्मधाईए सद्धिं जेणेव–चित्तसभा ....॥"

जव से मल्लिदिन्नकुमार ने चित्रसभा की तैयारी के समाचार सुने थे, तभी से उन्हें देखने की उत्सुकता हो रही थी। इसलिए दूसरे दिन स्नानादि से निपट कर अपनो रानियो के साथ वे चित्र-सभा देखने चले। धाई माता को वे वचपन से ही विशेष प्रेम करते थे, इसलिए इस प्रसग पर उसे भी साथ ले चले। चित्र–सभा के भीतर प्रवेश करने पर वे नानाप्रकार के हाव–भाव–पूर्ण श्रृंगार–रस के पोपक चित्रों को देखने लगे। देखते–देखते उनकी दृष्टि मल्ली-कुमारी के चित्र पर पडी। उन्हे कल्पना तक नहो थी कि कोई मल्लीकुमारी को विना देखे ही इतना सुन्दर चित्र निकाल सकता है। इसलिए उसे साक्षात मल्लीकुमारी ही समझ कर वे धीरे-धीरे

अपने पाँव पीछे हटाने लगे। जैसे आज कल कोई लड़का बीड़ी पीने मे लगा हो और अकस्मात् उसे अपनी माता या बहिन सामने आती दिखाई दे तो वह बीड़ी फैंक कर जैसे इधर-उधर भागने की चेष्टा करने लगता है। ठीक वैसी ही हालत यहां राजकुमार की भी हो रही थी। वे लज्जा के मारे भाग जाने की सोच रहे थे। इतने मे रानियों की तो नहीं, पर धाई माता की नजर कुमार पर पड़ी। वह मनोरंजन की अपेक्षा कर्त्तव्य को जरूरी समझती थी, इसलिए चित्रो को देखते हुए भी उसका आधा ध्यान कुमार की ओर लगा था।

मल्लिदिन्नकुमार की इस घटना से सिद्ध होता है कि लज्जा केवल स्त्रियों का ही गुण नहीं, बल्कि पुरुषो का भी है। सुधर्मा, गौतम आदि अनेक महापुरुषो के विशेषणो मे "लज्जासपन्ने" भी एक विशेषण है। तथा "लज्जादयासजमबभचेरं" लिख कर लज्जा को भी गुणो मे सब से पहला स्थान सूत्रकारो ने दिया है। लज्जा गुरुजनो से होती है, क्योकि गुरुजन पूज्य हैं। माता-पिता-गुरु आदि तो पूज्य समझे ही जाते थे, किन्तु बडी बहिन भी पूज्य थी, तभी तो उसे देख कर कुमार को यहाँ लज्जा आई। जिसमे लज्जा है, उसके सुधार की आशा रहती है, किन्तु जो बेशर्म हैं, वे कभी सुधर ही नही सकते। आजकल के नौजवान शादी होते ही अपने पिता को छोड़ बैठते हैं। पिता की आज्ञा में रहने को वे गुलामी समझते हैं। पिता की तो बात छोडिये, जन्म देने वाली माँ को भी बहुत-से युवक पूज्य समझने को तैयार नहीं होते। पूछने पर कह बैठेंगे —

"वाह! पिता के साथ विषयसुख भोगती हुई माँ से हम बाइचान्स पैदा हो गये तो इसमें उसका एहसान क्या हुआ?"

यह सुनते ही वह लब्धिधारी चित्रकार अलग खडा हो गया। तब कुमार ने एक जल्लाद को बुला कर आज्ञा दी—"मेरी पूज्य बहिन का चित्र बना कर इस कलाकार ने भयंकर भूल की है। इसके अविवेक के लिए इसे प्राणदण्ड दिया जाय, जिससे कि अन्य चित्रकारों को भी आगे से सावधानी रखने की शिक्षा मिले।'

इस भयकर दण्ड की बात सुन कर अन्य चित्रकारों क दिल करुणा से पिघल उठा। उन सब ने हाथ जोड कर कहा'—"स्वामिन्! हम पूरी तरह से विश्वास दिलाते हैं कि इसने आपकी बहिन को देखने का अपराध बिल्कुल नहीं किया है। इसे एक लब्धि प्राप्त है, जिससे कि यह किसी के एक अंग को देख कर भी सांगोपाग चित्र निकाल सकता है। एक बार पर्दे की ओट से जाते समय राजकन्या के पैर का अंगूठा इसे दिखाई दिया था इसलिए अपनी लब्धि के बल पर इसने मल्लीकुमारी का वह सुन्दर सांगोपांग चित्र बनाया है। इसे प्राणदण्ड देने पर इसकी यह अद्भुत कला भी इसी के साथ नष्ट हो जायगी! इसलिए ऐसा भयंकर दण्ड न देकर कोई दूसरा दण्ड दे दीजिए—यह हमारी प्रार्थना है।"

अन्य चित्रकारों की यह बात सुन कर कुमार का क्रोध कुछ शान्त हुआ और उन्होंने लब्धिधारी चित्रकार को अँगूठा कटवा कर देश-निकाला दे दिया। सभी चित्रकार राजमहल से बिदा होकर अपने-अपने घर लौट आये। फिर लब्धिधारी चित्रकार कुटुम्ब सहित घर से निकला और मिथिला नगरी को छोड कर कुरुदेश में जहाँ हस्तिनापुर था, वहाँ गया। नगर के बाहर एकान्त में अपना सामान रखने के बाद उसने चित्र-फलक पर हूबहू मल्ली-कुमारी का चित्र लब्धि के बल से फिर निकाला और उसे बगल में दबा कर राजमहल मे पहुचा।

कहा जा चुका है कि हस्तिनापुर के शासक महाराज अदीन-शत्रु थे। लब्धिधारी चित्रकार ने सिंहासन पर विराजमान महाराज अदीनशत्रु को प्रणाम किया और बगल में से चित्र निकाल कर उन्हें भेंट किया। चित्र देख कर राजा ने परिचय पूछा तो चित्रकार ने संक्षेप में अपनी पूरी रामकहानी कह सुनाई और कहा कि "इस प्रकार मैं निर्वासित हो कर आपको शरण में आया हूँ। चाहता हूं कि इसी नगर में मैं अपना धन्धा करता हुआ सुख से रहूँ।" यह सुन कर राजा ने कहा कि "तुम यहाँ सकुटुम्ब सानन्द रह कर अपनी कला में उन्नति करते रहो!" फिर आदर-सहित उसे बहुत-सा धन इनाम देकर बिदा किया।

इधर मल्लीकुमारी के सुन्दर चित्र को देख कर उसकी वासनाग्नि प्रज्वलित हो चुकी थी, इसलिए तुरन्त ही एक दूत बुला कर उसे उस सुन्दरी कन्या की याचना के लिए मिथिला को रवाना कर दिया।

फिर मिल जाता है। इसी बात को जैन-पञ्चतन्त्र में यों कहा गया है:—

"उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम् ।"

अर्थात्—इकट्ठे किये हुए धन का त्याग ही रक्षण है। जो धन कमाता है, उसके लिए त्याग उतना ही अनिवार्य है, जितना भोजन करने वालों के लिए जंगल या संडास मे जाना। जंगल में जाकर कल खाये हुए भोजन का आज त्याग न किया जाय तो अनेक रोग पैदा हो जाते हैं। उसी प्रकार इकट्ठे किये हुए धन का दान न किया जाय तो विषय-कषाय के भयकर मानसिक रोगों की उत्पत्ति होने लगती है। जो श्वास लेता है, उसके लिए नि.श्वास भी अनिवार्य है। इसलिए ज्ञानियो ने यहाँ तक कहा है कि—

"ग्रासादर्धमपिग्रासमर्थिभ्यः किं न दीयते ?"

यदि तुम्हारे पास एक ही ग्रास है और कोई भूखा द्वार पर आ जाय तो आधा ग्रास उसे दे देना चाहिये। महाकवि भर्तृहरि ने भी एक जगह लिखा है:—

"दानेन पाणिर्न तु कंकणेन ॥"

अर्थात्—कंकण से नहीं, दान से ही हाथ की शोभा है।

मूर्तिपूजक श्वेताम्बर, दिगम्बर, श्रावक, वैष्णव आदि सभी मन्दिरों में जाने वाले द्रव्यपूजा के नाम से कुछ न कुछ चढ़ाते हैं, गरीब से गरीब भी एकाध पैसा रोज मन्दिर में चढ़ाता है। कल ही हिंगोणे के इसी स्थानक में घटी हुई एक घटना इस बात का पक्का सबूत है। एक वृद्ध श्रद्धालु जैनेतर सज्जन दूर के अपने खेडे से चल कर व्याख्यान के बाद कल यहाँ आया था। अपनी भावना

के अनुसार सभी सन्तों को वन्दन करने के बाद उसने पूछाः—"महात्मन्! यहाँ कोई दान के लिए धर्मपेटी नहीं है क्या? मुझे कुछ त्याग करने की इच्छा है।" किन्तु जब उसे मालूम हुआ कि यहाँ वैसी कोई धर्मपेटी नहीं है, तो दान के नाम से यहीं के एक भाई को एक रुपया देकर चला गया। सज्जनो! इसे कहते हैं दान। मेरा कहना यह नहीं है कि आप लोग दानी नहीं है! मैं जानता हूँ कि आप अधिक से अधिक दान करते है! किन्तु आप लोगो की यह प्रवृत्ति श्रावण और भादवे मे ही प्राय. देखी जाती है, शेप १० महीनों में नहीं के बराबर रहती है। इसलिए मेरा कहना है कि दान भले ही थोडा हो, पर नियमित होना चाहिए—नित्य होना चाहिए। सामायिक, प्रतिक्रमण, भोजन, श्वासोच्छ्वास आदि के समान दान भी दैनिक-कार्यक्रम का अग बन जाना चाहिए।

दूसरी और तीसरी बात है शौच और तीर्थस्नान। चोक्खा स्थान, मकान, वस्त्र, शरीर आदि को बार-बार साफ करना भी धर्म का अंग बताया करती थी। पापो की शुद्धि के लिए तीर्थों की यात्रा करना तथा गगा, सरस्वती आदि महानदियो मे स्नान करना चाहिए—ऐसा भी कहा करती थी। हमारा मत-भेद यहीं है। ऊपर-ऊपर से ये बातें अच्छी मालूम होती हैं, किन्तु गहराई से विचार करने पर इनकी कलई खुल जाती है और मालूम होने लगता है कि ये प्रवृतियाँ धर्मरूप नहीं, बल्कि पापरूप हैं।

सज्जनो! यों तो शास्त्रो में भी महामुनियो के विशेषणों में "सोयप्पहाणे" (शौचप्रधान) शब्द आता है, किन्तु यहाँ तात्पर्य आत्मशुद्धि से है, भावशुद्धि से है! द्रव्यशुद्धि से नहीं, किन्तु चोक्खा परिव्राजिका का उपदेश द्रव्यशुद्धि के लिए ही था! द्रव्यों की शुद्धि का प्रयत्न ही हास्यास्पद है। सूत्रकारों ने कहा है "सडणपडणविद्धंसण धम्मे" अर्थात् सडना, गलना, नष्ट होना

ही पुद्गलों का स्वभाव है और स्वभाव कभी बदला नहीं जा सकता-यह सिद्धान्त है। नीम कभी मीठा हो नही सकता। क्योंकि कडुआपन ही उसका स्वभाव है। यदि कोई घी और गुड से नीम की जड को सींचे, तो भी वह मीठा नहीं होगा। सिर के बालों को कितनी भी बार क्यों न काटा जाय, वे फिर ऊग आएँगे। कुत्ते की पूँछ पर छह मन तेल की मालिश करके छह महीने तक किसी शिला के नीचे दबा कर रक्खी जाय तो भी कहा जाता है कि वह सीधी न होगी, टेढ़ी ही रहेगी। ठीक इसी प्रकार पुद्गलों का स्वभाव भी समझिये। जिसमे अन्न पैदा होता है, उस खेत मे खाद सोने-चाँदी का नही डाला जाता, किसका डाला जाता है? यह आप सब लोग जानते हैं। ऐसे खाद से पैदा हुए अन्न को शुद्ध कैसे कहा जाय? जब अन्न शुद्ध नही है तो भोजन कैसे शुद्ध होगा? इसीलिए तो कल खाया हुआ हलुआ आज विष्ठा बन जाता है। गाँव के आस-पास बहने वाली नदियो का पानी भी अशुद्ध है, गाँव-भर की गटरों का पानी उनमें जा मिलता है, स्नान करने वालों का मैल भी उसी मे छूटता है। बादलो का पानी जमीन पर पडते ही धूल से मिलकर कीचड़ बन जाता है और सडने पर अनेक कीटाणु पैदा हो जाते हैं उसमे। गदे खाद से पैदा होने के कारण अन्न के समान रूई भी अशुद्ध है, किन्तु कपड़े बनाते समय जानवरों की चर्बी आदि का मिश्रण करके उसे और भी अशुद्ध बनाया जाता है। इस प्रकार गदे अन्न को खाने वाले, गदे पानी को पीने वाले और गदे वस्त्रो को पहिनने वाले इस शरीर को भी जरा ध्यान से देखिये कि इसमें क्या शुद्ध है? थूक, लार, सेडा पसीना, मूत्र, विष्ठा, खून, हड्डी आदि महा अशुद्ध पदार्थों की एक पतली सी चमडी मे बधी हुई गठरी के सिवाय और कुछ नहीं है वहाँ। इस प्रकार जब सब-कुछ अशुद्ध ही अशुद्ध है, तब किसे-किसे शुद्ध किया जाय और कैसे किया जाय? इसीलिए हमारे

परम वीतराग सर्वज्ञों ने वर्षों तक मनन-चिन्तन करके हमे यह सिखाया है कि दुनियाँ मे कोई भी वस्तु शुद्ध नही की जा सकती, सिवाय आत्मा के, क्योंकि आत्मा स्वभाव से शुद्ध है, उसमें जो कर्मों का मैल लगा है, वह उसका स्वभाव नहीं, विभाव है और यह विभाव तपस्या की अग्नि से भस्मसात् किया जा सकता है।

यों तो चोक्खा भी आत्मशुद्धि का समर्थन करती थी, किन्तु आत्मशुद्धि का साधन तीर्थयात्रा और स्नान बताती थी, जो ठीक नहीं है। स्नान से आत्मशुद्धि हो ही नहीं सकती। ऐसा होता तो पानी में रहने वाले मगरमच्छ और मछलियों को भी मुक्ति मिल गई होती। सन्त तुकाराम ने कहा था —

"स्नान केल्यानें ने देव काय जोडे। पाण्यामधे बेंडुक काय थोडे ॥"

यदि स्नान करने से देव मिलता, तो पानी में मेढ़क कहाँ थोडे हैं? उन्हे भी देव मिलना चाहिए था। एक हिन्दी कवि ने भी कहा है —

"लो तन को धोए क्या हुआ, इस मन को धोना चाहिए ॥"

और फिर मन को धोने का तरीका बताते हुए कहा है —

"सिल बनाओ शील की और ज्ञान का साबुन सही।
प्रेम पानी बीच में सब मैल धोना चाहिए ॥"

कहने का आशय यही है कि द्रव्यशुद्धि असम्भव है और द्रव्यशुद्धि से आत्मशुद्धि की आशा करना मूढता है। किन्तु चोक्खा परिव्राजिका इस रहस्य को नहीं समझती थी।

"तए णं सा चोक्खा परिव्वाइया अन्नया कयाइं तिदंडं च कुंडियं च······जेणेव मल्ली विदेहरायवरकण्णा तेणेव उवागच्छइ तुब्भे णं चोक्खे! किंमूलए धम्मे

पण्णत्ते ?………अम्हाणं देवाणुप्पिए ! सोयमूलए धम्मे पन्नत्ते, बेमि–जहेणं किंचि असुई भवइ तण्णं उदएण य मट्टियाए य जाव अविग्घेणं सग्गं गच्छामो ॥"

एक दिन गेरूए रंग के कपडे पहन कर त्रिदंड, कुंडी, आसन आदि उठाए कुछ शिष्याओं के साथ मिथिला के बीच होती हुई चोक्खा राजमहल मे जहाँ मल्लीकुमारी बैठी थी, वहाँ जा पहुँची और पानी से जमीन शुद्ध करके दर्भासन बिछा कर बैठ गई। साथ में आई हुई अन्य परिव्राजिकाएँ भी यथास्थल आसन बिछा कर बैठ गईं। इसके बाद चोक्खा ने विस्तृत प्रवचन दिया, जिसमें अपनी तीनो बातो का समर्थन किया। प्रवचन समाप्त होने के बाद मल्लीकुमारी ने पूछा कि "तुम्हारे धर्म के मूल मे क्या है ?" इस प्रश्न के उत्तर में चोक्खा ने कहा.—"हमारे धर्म के मूल मे शौच है, पवित्रता है। जैसे अशुद्ध वर्त्तन मिट्टी से रगड कर पानी से धोने पर शुद्ध होता है, वैसे ही तीर्थस्नान से आत्म-शुद्धि होती है और स्वर्ग मिलता है।"

यह बात सुन कर मल्लीकुमारी ने उस चोक्खा का अविवेक दूर करने के हेतु समझाने के लिए एक छोटा-सा प्रश्न पूछा:—

"चोक्खा ! से जहाणामए केइ पुरिसे रुहिरकयं वत्थं रुहिरेण चेव धोवेज्जा; अत्थि णं चोक्खा ! तस्स रुहिरकयस्स वत्थस्स रुहिरेणं चेव धोवमाणस्स काई सोही ?"

अर्थात—"चोक्खा ! यदि कोई पुरुष खून से भरे हुए वस्त्र को खून से ही धोने लगे तो क्या शुद्ध होगा ?" परिव्राजिका ने कहा.—

"णो इणट्ठे समट्ठे ॥"

अर्थात् - "ऐसा नहीं हो सकता ।" फिर मल्लीकुमारी ने कहा:—

"एवामेव चोक्खा ! तुब्भेणं पाणाइवाएणं जाव मिच्छा दंसणसल्लेणं णत्थि काई सोही जहा व तस्स रुहिरकय-घत्थस्स रुहिरेण चेव धोवमाणस्स ॥"

इसी प्रकार हे चोक्खा ! हिंसा से आत्मशुद्धि नहीं होती । पाप से पाप नष्ट नहीं होता । कीचड़ से कीचड़ साफ नहीं होता । स्याही से यदि कोई दाग लग जाय तो वह स्याही से धोने पर मिटेगा नहीं, बढ़ेगा ! स्नान बिना पानी के नहीं होता और पानी का उपयोग करने पर उसमें रहे हुए जीवों की हिंसा होती हैं । पानी में कितने जीव हैं—यह बात आचार्यों ने एक गाथा से इस प्रकार बताई है.—

एगम्मि उदगबिंदुंमि, जे जीवा जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
ते जइ सरिसवमित्ता, जम्बूद्दीवे ण मायंति ॥

अर्थात्—पानी की एक बूँद मे जिनेश्वर भगवान् ने इतने जीव बताये हैं कि यदि वे सरसो का आकार बना लें तो इस जम्बू-द्वीप में समा न सकें ! इस से सहज ही कल्पना हो सकती है कि पानी की एक बूँद मे जब इतने जीव हैं तब स्नान करने से कितने जीवों की हिंसा होती होगी ?

"तए णं सा चोक्खा" विदेहरायवरकण्णाए णो संचा-एइ किंचिवि पामोक्खमाइक्खित्तए तुसिणीया संचिट्ठइ"...

राजकन्या मल्ली के सौन्दर्य की तुलना देवकन्या और गंधर्वकन्या से भी नही की जा सकती ! फिर तुम्हारा अन्त पुर तो चीज ही क्या हैं ? मैं सच कहती हूं, उस कन्या के पैर के अंगूठे के सौन्दर्य के लाखवें अंश की बराबरी मे भी तुम्हारा अन्त पुर नही ठहर सकता ।'' ऐसा कह कर चोक्खा जिधर आई थी, उसी ओर चली गई ।

इसके बाद आश्चर्य और वासना के वशीभूत होकर महाराज जितशत्रु ने मल्लीकुमारी को अपनी रानी बनाने की इच्छा से उसकी याचना करने के लिए एक दूत को समझाबुझा कर मिथिला भेज दिया ।

१९-युद्ध में हार

सज्जनो !

आचार्य सुधर्मा स्वामी अपने सुयोग्य शिष्य जम्बू स्वामी को "णाया धम्मकहा" के आठवें अध्ययन का अर्थ बताते हुए कह रहे हैं कि छह राजाओं के अलग अलग छह दूत मल्लीकुमारी की याचना करने के लिए मिथिला की ओर रवाना हो चुके हैं।

"तए णं छप्पिय दूयगा जेणेव मिहिला णगरी··· जेणेव कुंभे राया तेणेव उवागच्छति···साणं साणं राईणं वयणाइं निवेदेंति ॥ तए णं से कुंभे राया··आसुरत्ते··· वयासी—ण देमि णं अहं तुब्भं मल्लिविदेहरायवरकण्णा त्ति कट्टु······।"

मिथिला नगरी के बाहर एक उद्यान मे अपना-अपना डेरा डाल कर छहों राजदूत एक साथ राजमहल मे महाराज कुम्भ के पास पहुँचे। पहुँचते ही हाथ जोड़ कर प्रत्येक दूत ने अपने राजा का सन्देश सुनाते हुए कन्या की याचना की। इससे महाराज को क्रोध आ गया। भौहें तान कर उन्होंने कहा—"मैं तुम लोगों में से किसी के स्वामी को कन्या देना नहीं चाहता! चले जाओ।"

इस प्रकार आए हुए दूतों का सत्कार-सन्मान तक नहीं किया और उन्हें पिछले फाटक से निकलवा कर रवाना कर दिया गया। वहाँ से चल कर सब राजदूत अपने-अपने नगर में पहुँचे और राजाओं को सारा हाल कह सुनाया। सुन कर सभी राजा

क्रुद्ध हो गये। क्योंकि दूत का अपमान वास्तव में राजा का अपमान है—यह बात वे समझते थे। आखिर उन्होंने इस अपमान का बदला लेने की ठान ली और आपस मे एक-दूसरे को दूत भेज कर एक साथ महाराज कुम्भ पर आक्रमण करने की तैयारी करने लगे।

महाराज कुम्भ ने दूतो का अपमान करके एक बडी भूल की। क्रोध मे भान नहीं रहता। कर्त्तव्य का विवेक नही रहता। महाकवि बाणभट्ट ने हर्षचरित में लिखा है —

"न हि कोपकलुषिता विमृशति मतिः कर्त्तव्यमकर्त्तव्यं वा ॥"

अर्थात्—क्रोध से बिगडी हुई बुद्धि नही समझ पाती कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं? दूत तो अपने अपने स्वामियो का सन्देश लेकर आये थे। कन्या की याचना करना कोई अपराध नहीं है। पानी जिसके पास होता है, उससे यदि कोई प्यासा पानी मांगे, तो कोई अपराध नहीं माना जाता। हां, यदि वस्तु होते हुए भी देना न चाहें तो सभ्यता से इन्कार कर देना चाहिए, किन्तु क्रोध करना उचित नही। यदि महाराज क्रोध न करते तो उनके द्वारा दूतो का अपमान भी न होता। दूत के अपमान का फल कभी अच्छा नही होता। हनुमानजी दूत बन कर लंका गये थे। रावण ने उनका अपमान करने के लिए पूँछ मे आग लगा दी तो परिणाम कितना भयंकर हुआ। सोने की लका जला दी गई, भयंकर युद्ध हुआ और रावण का परिवार-सहित नाश हुआ। यह बात महाराज कुम्भ के ध्यान मे न आई। वे सोच ही नही पाये कि दूतो का यह अपमान आगे चल कर युद्ध का रूप ले लेगा।

कौरव-पाण्डवो का भयंकर युद्ध भी दुर्योधन के अपमान का परिणाम था। बात यो हुई कि दिग्विजय के बाद पाण्डवो ने

मयासुर से एक सुन्दर महल बनवाया था, जिसे देखने के लिए दूर-दूर से लोग आया करते थे। किसी कारणवश एक बार दुर्योधन भी अपने मामा शकुनि के साथ वहां जा पहुंचा। पांडवों को उनके आने की खबर लगी तो वे तुरन्त वहां पहुँचे और आदर-सहित उस नये अद्भुत महल को देखने की प्रार्थना करने लगे। दुर्योधन तैयार हो गये और सब साथ ही साथ चले। सन्मान के लिए पाण्डवों ने दुर्योधन को आगे किया और स्वयं पीछे-पीछे चलने लगे। महल इतना अनोखा था कि उसमें जल के स्थान स्थल का, स्थल के स्थान पर जल का, दीवार के स्थान पर द्वार का और द्वार के स्थान पर दीवार का भ्रम दर्शकों को होने लगता था। महल की इस विशेषता से दुर्योधन परिचित नहीं था, इसलिए उसने दीवाल को खुला दरवाजा समझ कर ज्यो ही भीतर प्रवेश करने की चेष्टा की त्यों ही टकरा कर गिर पडा। इससे भीम, नकुल, सहदेव आदि भाइयों को हँसी आने लगी, किन्तु बडे भाई युधिष्ठिर के इशारे पर उन्होंने किसी तरह हँसी रोक ली। आगे बढने पर दरवाजे को दीवार समझ कर दुर्योधन खडे रह गये। यह देख कर सब भाइयों के मुँह से मुस्कराहट निकल पडी, किन्तु युधिष्ठिर अब भी शान्त थे। घर आये हुए व्यक्ति की हँसी उडाना एक प्रकार से उसका अपमान करना है—यह बात वे समझते थे, इसलिए इस बार भी अपने छोटे भाइयों को उन्होंने रोका। वहाँ से आगे बढने पर जल से भरे हुए चौक को स्थल समझ कर ज्यों ही दुर्योधन चलने लगे त्यों ही धम्म-से गिर पडे और कपडे गीले हो गये। यह देख कर भाइयों की हँसी रोकने पर भी न रुकी और सभी खिलखिला कर हँस पडे, किन्तु युधिष्ठिर ने इसे घोर असभ्यता समझ कर भाइयों को डाँट-फटकार कर चुप किया और दुर्योधन को नये वस्त्र पहिनने के लिए दे दिये।

दुर्योधन मन ही मन सोच रहा था कि पाण्डवो ने आज मेरा खूब अपमान किया है, इसलिए मौका देख कर जरूर इस अपमान का बदला लूँगा । वह तो वहीं से लौट जाना चाहता था, किन्तु युधिष्ठिर की शान्ति, शिष्टता, सौजन्य और आगे चलने के आग्रह को देख कर उसने जल्दी लौटने का विचार छोड़ दिया ।

आगे बढ़ने पर उसे पानी से भरा हुआ एक सरोवर दिखाई दिया, इसलिए उसने अपनी धोती ऊपर उठा ली । किन्तु वहाँ जल नहीं स्थल था । यह दृश्य झरोखे मे बैठी हुई द्रौपदो देख रही थी। उससे रहा न गया और एक ठहाके की हँसी छोड़ कर उसने सहेलियो से कह —"देखो री ! अन्धे की सन्तान आखिर अन्धी ही होती है ।" (स्मरण रहे कि दुर्योधन के पिता धृतराष्ट्र जन्म से ही अन्धे थे) यह वाक्य दुर्योधन के कानों में पडा कि वह एकदम तिलमिला उठा और उसने पाण्डव को नीचा दिखा कर अपने इस घोर अपमान का वदला लेने का पक्का निश्चय कर लिया । परिणाम-स्वरूप जूए में पाँडवों को राज्य खोना पडा, जंगलों मे भटकना पडा और अन्त मे दुर्योधन को ग्यारह अक्षौहिणी सेना के साथ घमासान युद्ध करना पडा । यदि दुर्योधन का अपमान न किया जाता, तो इतनी परेशानियाँ उठानी ही न पडती । यहाँ महाराज कुम्भ ने भी दूतो का अपमान करके युद्ध का बीज बो दिया था ।

" तए णं से जियसत्तूपामोक्खा ण्हाया सण्णबद्धा ·········चउरंगिणीए सेणाए सद्धि ·····जेणेव मिहिला णयरी········।। तए णं से कुंभे राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे · ····सन्नद्धबद्धे जाव हत्थिखंधवरगए······· खंधावारनिवेसं करेइ ।।"

उधर जितशत्रु आदि छहों राजा स्नानादि से निवृत्त होकर शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित अपनी-अपनी चतुरंगिणी सेनाओं के साथ विदेहदेश को सीमा पर आ पहुँचे और वहीं अपना डेरा डाल दिया ।

किसी गुप्तचर से जब महाराज कुम्भ के कानों में ये समाचार पहुँचे तो वे भी तुरन्त हाथी पर सवार हो कर अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ मिथिला के बीच होते हुए वहीं जा पहुँचे कि जहाँ जितशत्रु आदि राजा युद्ध की प्रतीक्षा मे बैठे थे ।

सज्जनो ! प्रसंग से थोड़ा-सा युद्ध पर विचार करें । प्राचीन-काल से युद्ध होते आये हैं, आज भी होते हैं, किन्तु इसमे कोई सन्देह नहीं कि युद्ध पाप है । युद्ध में हजारों-लाखो सैनिक मारे जाते हैं । जैन-इतिहास मे चेड़ा और कोणिक का युद्ध बहुत प्रसिद्ध है, जिसमे लाखो सैनिक आपस मे कट कर मरे थे ! कौरव-पाण्डवों का महाभारत घर-घर में विख्यात है । आज भी कहीं चार जनों की "तू तू मैं-मैं" होती है, वहां कहा जाता है—"यह क्या महा-भारत मचा रक्खा है ?" इस प्रकार हिन्दी-साहित्य को एक नया मुहावरा मिला है । स्मरण रहे कि इस महाभारत में अट्ठारह अक्षौहिणी सेना का खात्मा हो गया था ! राम और रावण का युद्ध तो भारत में ही नहीं सारे ससार में मशहूर है । सस्कृत के कवियों ने कहा है —

" गगनं गगनाकारं, सागरं सागरोपमम् ।
रामरावणयोर्युद्धं, रामरावणयोरिव ॥"

अर्थात् आकाश आकाश के ही आकार का है, समुद्र समुद्र के ही समान है और राम-रावण-युद्ध राम-रावण-युद्ध जैसा ही है । अर्थात् दुनियाँ में ये तीनो अनुपम हैं । आज भी पिस्तौल, बन्दूक,

तोप आदि से बढ़ कर मशीनगन, एटम बम, हाइड्रोजन बम आदि एक से एक भयंकर संहारक-अस्त्रों का निर्माण हो रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सब युद्ध के ही लिए है। विज्ञान मृत्यु की ओर दुनियाँ को ले जाना चाहता है, मानवता धीरे-धीरे दूर होती जा रही है! कितनी शोचनीय परिस्थिति है?

बुद्धि तृष्णा की दासी हुई, मृत्यु का सेवक है विज्ञान।
चेतता अब भी नही मनुष्य, विश्व का क्या होगा भगवान्॥

राष्ट्रकवि "दिनकर" की इन पंक्तियो से इस बात को पुष्टि मिलती है। कवि ने पद्य की पहली पक्ति मे युद्ध का कारण तृष्णा बताया है। एक कहावत भी प्रसिद्ध है —

"जर जोरू औ' जमीन। झगडे के घर तीन॥"

चेडा और कोणिक का युद्ध ज़र के लिए—सम्पत्ति के लिए हुआ था। राम-रावण-युद्ध सीता के लिए—जोरू के लिए हुआ था। महाभारत जमीन के लिए हुआ था। पशुपक्षियों मे भी युद्ध होता है तो इन्हीं तीन में से किसी एक कारण को लेकर। ज़र-जोरू-जमीन इन तीनो के मूल मे देखा जाय तो तृष्णा ही मालूम होगी। तृष्णा को अग्नि की उपमा दी जाती है, जैसे अग्नि में कितना भी इन्धन डाला जाय, वह शान्त नहीं होती, उसी प्रकार तृष्णा भी शान्त नहीं होती। जैसा कि सुन्दरदासजी ने कहा है —

"जो दस बीस पचास भये, शत होइ हजार तु लख मँगेगी।
कोटि अरब्ब खरब्ब असख्य, धरापति होने की चाह जगेगी॥
स्वर्ग-पताल का राज करूँ, तृसना मन में अति ही उमगेगी।
"सुन्दर" एक सन्तोष बिना शठ! तेरी तु भूख कवौं न मिटेगी॥"

सन्त-कवि सुन्दरदास कह रहे हैं कि अरे मूर्ख! सन्तोष के बिना तेरी भूख नहीं मिटेगी। किन्तु कवि की इस सलाह को लोभी

मनुष्य मानते नहीं और तृष्णा के पीछे पड कर बडे-बड़े अनर्थ कर जाते हैं, घमासान युद्ध करते है, लाखो सैनिकों के प्राण लेकर उनकी पत्नियों को विधवा बनाते हैं, बच्चों को अनाथ बनाते हैं। इस प्रकार अपनी घोर तृष्णा की प्यास रणक्षेत्र मे खून की नदियाँ वहा कर भी क्या वे बुझा पाते हैं? नहीं, नहीं, नहीं।

यहाँ जित शत्रु आदि छहो राजा भी मल्लीकुमारी को जोरू के रूप मे पाने की तृष्णा से ही युद्ध करने आये हैं, अपमान का बदला लेने की बात तो सिर्फ एक बहाना है।

" तए णं जियसत्तूपामोक्खा छप्पि रायाणो जेणेव कुंभए राया तेणेव उवागच्छंति......॥ "

फिर जितशत्रु आदि राजाओं की सेना के साथ महाराज कुम्भ का छोटा-सा सैन्य बड़े उत्साह के साथ भिड गया। खूब युद्ध हुआ। सामने वाले पक्ष का सैन्य छह गुना होने से महाराज कुम्भ उसे जीत न सके और अन्त मे भाग कर किले की शरण ली। किले मे अपने बचे हुए सैनिकों के साथ बैठ कर महाराज कुम्भ सोचने लगे कि अब क्या करना चाहिए। उधर विरोधी राजाओं ने आकार मिथिला नगरी को चारो ओर से घेर लिया। रात हुई। सभी सो गये। महाराज कुम्भ भी महलो मे आकर सोगये, किन्तु चिन्ता के कारण उन्हे नींद बहुत देर से आई।

धीरे- धीरे रात बीती। सबेरा हुआ। महाराज कुम्भ शय्या छोड कर उठे और शौच-स्नानादि आवश्यक कार्यों से निपट कर राज-सिहासन पर जा बैठे। आज वे काफी चिन्तित थे, चेहरा उदास था।

प्रिय सज्जनो !

आचार्य सुधर्मा स्वामी अपने सुशिष्य जम्बूस्वामी को "णाया धम्मकहा" के आठवे अध्ययन का अर्थ बताते हुए कह रहे हैं कि युद्ध मे हार जाने के कारण महाराज कुम्भ को अपमान का तो दु ख हो ही रहा था, किन्तु उन छह राजाओ ने मिथिला को चारों ओर से घेर लिया था, इसलिए चिन्ता भी हो रही थी। उन्हे सूझ ही नही पा रहा था कि ऐसी परिस्थिति में करना क्या चाहिए।

" इमं च णं मल्ली विदेहरायवरकण्णा ण्हाया जाव बहूहिं खुज्जाहिं परिवुडा जेणेव कुंभराया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता कुभस्स पायग्गहणं करेति ·····॥ "

मल्लीकुमारी प्रतिदिन प्रात. काल अपने माता-पिता को प्रणाम किया करती थी। आज भी वह स्नानादि आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर कुछ दासियो के साथ अपने पिता (जो सिंहासन पर बैठे थे) के पास पहुँची और उन्हे प्रणाम किया।

यहाँ थोड़ा-सा विचार करना है कि मल्ली ने पिता को— महाराज कुम्भ को वन्दन क्यो किया ? क्या इसलिए कि छोटा बड़े को वन्दन करता है, और उम्र मे पिता से छोटी होने के कारण ही मल्ली ने वन्दन किया था ? नहीं, तो क्या इस लिए कि मल्ली स्त्री थी और स्त्री से पुरुष श्रेष्ठ होने से वन्दनीय है ? नहीं क्या ? सुनिये, नीतिकार कह रहे हैं.—

"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ॥"

अर्थात् गुणों से ही मनुष्य पूज्य बनता है, गुणियो के लिंग या उम्र का विचार नहीं किया जाता, सिर्फ गुणों का विचार किया जाता है। हम यहाँ देखते हैं कि गुणों की दृष्टि से महाराज कुम्भ मल्लीकुमारी की तुलना में ठहर ही नहीं सकते। कहाँ काम-भोग और कहाँ ब्रह्मचर्य! कहाँ क्रोध और कहाँ क्षमा! कहाँ तृष्णा और कहां सन्तोप! कहाँ युद्ध और कहाँ शान्ति! कहाँ कपट और कहाँ सरलता! कहाँ अभिमान और कहाँ नम्रता! कहाँ हिंसा और कहाँ दया! कहाँ कुम्भ और कहाँ मल्ली! एक भी बात तो नहीं मिलती? फिर तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन और जन्म से तीन ज्ञानों का साहचर्य तो ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनके आगे तीनो लोक के प्राणी अपना-अपना मस्तक झुका सकते हैं, स्वय महाराज कुम्भ भी। इसलिए सवाल उठ सकता है कि क्यों मल्ली महाराज कुम्भ को वन्दन करती थी?

सवाल ठीक है। इसके उत्तर में बहुत-सी बातें कही जा सकती है। खास-खास ये हैं:—

१—ज्यों ज्यों गुण बढ़ते जाते हैं, त्यों त्यो विनय भी बढ़ता जाता है। आम के पेड़ पर जितने अधिक फल लगते जायँगे, उतनी ही अधिक उसकी टहनियाँ झुकती जायँगी। सत तुलसीदास ने यह वात बादल के दृष्टात से यो समझाई है —

बरसहिं जलद भूमि नियराये। जथा नवहि बुध विद्या पाये ॥

अर्थात्—वरसने वाले ये वादल पानी अधिक होने से भूमि के पास आ गये हैं, जैसे पडित विद्याएँ पाकर झुक जाते हैं। नम्र वन जाते है। मल्लीकुमारी मे भी इसी कारण गुणों की वृद्धि के साथ साथ नम्रता वढ़ती जा रही थी।

२—अभिमान सातवाँ पाप है। यह धर्म, तप और निर्वाण की साधना में बाधक है, क्रोध भी अभिमान के कारण ही आता है। विनय अभिमान का विरोधी है। विनय और अभिमान दोनो साथ-साथ नहीं रह सकते, इसलिए अभिमान को हटाने के लिए विनय को अपनाना जरूरी है। आचार्यों ने फरमाया है:—

"विणओ सासणमूलो, विणओ णिव्वाणसाहगो।
विणओ विप्पमुक्कसस्स, कओ धम्मो कओ तवो॥"

अर्थात्—विनय ही शासन का मूल है, वही निर्वाण का साधक है; जिसमे विनय न हो, उसमे धर्म और तप कहाँ? मल्ली-कुमारी यह बात समझती थी। उसे आगे चल कर धर्म और तप के द्वारा निर्वाण तक पहुंचना था, इसलिए विनयगुण उसकी रग-रग मे समा चुका था।

३—हमे शरीर, मन और वचन माता-पिता की कृपा से ही मिले हैं। बचपन से ही उन्होने हमारा पालनपोषण किया है, इसलिए उनके उपकारो को हमे याद रखना चाहिए। उनकी आज्ञा का पालन करना, उन्हे दुखों से बचाना, प्रातःकाल उनके चरणों में प्रणाम करना आदि से उनके उपकारो के प्रति कृतज्ञता प्रकट की जा सकती है। भगवान् पार्श्वनाथ अवधिज्ञान से जानते थे कि तापस ढोंगी है, फिर भी माता की आज्ञा का पालन करने के लिए उन्हे तापस के निकट माता को साथ लेकर जाना ही पडा। माता-पिता की आज्ञा का पालन करने के ही लिए रामचन्द्र को लक्ष्मण और सीता के साथ चौदह वर्ष तक वनवास स्वीकारना पड़ा था। भगवान् महावीर जब गर्भ में थे, तब अपने शरीर का सचालन इसलिए बन्द कर दिया था कि कहीं इससे माता को कष्ट न हो। तीसरी बात है प्रणाम की। सुना जाता है कि महाराज कृष्ण

अपनी बहत्तर हजार माताओं को प्रातःकाल प्रणाम किया करते थे। आजकल के सपूतों को देखिये, अपनी एक माता और एक पिता के चरणों में प्रणाम करने की भी उन्हे फुरसत नहीं रहती! फुरसत का तो बहाना है, असल में उन्हें सकोच होता है। आज-कल की नई शिक्षा-दीक्षा के इस भयंकर दुष्परिणाम का उल्लेख पहले के एक प्रवचन में किया जा चुका है अस्तु। मल्लीकुमारी भी माता-पिता के उपकारों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए उन्हें प्रतिदिन नियम से चरण-वन्दन किया करती थी।

४—माता पिता को प्रणाम करते-रहने से बचपन से ही सिर झुकाने का अभ्यास हा जाता है, जिससे कि आगे चल कर सज्जनों, अध्यापको और धर्माचार्यों को प्रणाम करने की वृत्ति बनी रहती है और मनुष्य उच्छृखल नहीं हो पाता।

५—जो अपने आपको बड़ा समझ लेता है, उसका विकास नहीं हो पाता। जो अपने को छोटा समझता है, वही बड़ा बन सकता है। जैसा कि किसी ने कहा है.—

"लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर ॥"

गुरु नानक का भी इस विषय मे एक दोहा प्रसिद्ध है.—

"नानक नन्हें न्है रहो, जैसे नन्ही दूब।
और घास जल जायगी, दूब खूब की खूब ॥"

उपर्युक्त सवाल का समाधान करने के लिए ये पाँच बातें काफी है। अब मैं अपने मूल विषय पर आता हूँ। हर-रोज जब मल्ली-कुमारी प्रणाम करने आती थी, जब महाराज कुम्भ उसे प्रेम से गोद मे उठा लेते थे और मुस्कराहट के साथ कुशल पूछते थे, किन्तु आज का रंग-ढग ही निराला दिखाई दे रहा था। पिताजी को इस

प्रकार उदास देख कर मल्ली को चिन्ता हुई। वह जानना चाहती थी, कि पिताजी की दशा ऐसी क्यों है? आज कल की बालिकाएँ तो अपने पिताजी को उदास देख कर और कुछ करें या न करें, पर रोने जरूर लगती हैं। किन्तु मल्ली इतनी कायर नहीं थी। वह पिताजी को प्रसन्न देखने के लिए उनकी उदासीनता का कारण जान कर उसे दूर करना चाहती थी, उसने पूछा:—"पिताजी! आज आप इतने चिन्तित क्यों हैं? आर्त्तध्यान क्यो कर रहे हैं? बताइये।"

यह सुन कर महाराज कुम्भ ने कहा:—

"एवं खलु पुत्ता! तव कज्जे जियसत्तुपामोक्खेहिं छहिं राइहिं दूया संपेसिया, तेणं मए असक्कारिया....... ज्झियामि॥"

"बात ऐसी हो गई बेटी! कि तुम्हारी याचना करने के लिए जितशत्रु प्रमुख छह राजाओं के दूत जब मेरे पास आये थे, तो मैंने उनका सत्कार किया नहीं और साफ इन्कार कर दिया था। यह बात दूतों के मुँह से सुनते ही क्रुद्ध होकर छहो राजा एक साथ अपनी-अपनी सेना लेकर चले आये और मुझे सदेश भेजा। युद्ध का सदेश सुन कर क्षत्रियों की भुजायें फडक उठती हैं। इसलिए अपनी छोटी-सी सेना को लेकर बिना आगे-पीछे का विचार किये ही मैं मैदान मे जा डटा। यद्यपि मिथिला के सैनिकों ने काफी उत्साह के साथ मेरा साथ दिया था, किन्तु शत्रुओं की सेना छह गुनी थी, इसलिए अन्त में मेरी ही पराजय हुई और अन्त मे बचे हुए सैनिकों के साथ मैं शत्रुओं को पीठ दिखा कर लौट आया। अब समाचार मिले है कि उन राजाओ ने मिथिला

को चारो ओर से घेर लिया है। आगे कौन जाने वे क्या उपद्रव करें ? इस विकट परिस्थिति में मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि मुझे क्या करना चाहिए ? मेरे आर्त्तध्यान का यही कारण है।"

"तए णं मल्लीविदेहरायवरकण्णा कुंभरायं एवं वयासी–मा णं तुब्भे ताओ ! ओहयमणसंकप्पा जाव झियाह ॥ तुब्भेणं ताओ ! तेसिं जियसत्तुपामोक्खाणं छण्हं राईणं···तव दामि मल्लिं···संज्झकालसमयंसि पविरलमणूसंसि ···गब्भघरएसु अणुप्पवेसेह ··· ·॥"

पिताजी की चिन्ता का कारण जान कर मल्लीकुमारी ने आश्वासन देते हुए तथा आये हुए सकट को टालने का उपाय बताते हुए कहा:—

"पिताजी ! आप इस प्रकार का आर्त्तध्यान न करें [चिंता करने से, शोक में उदासीन होकर बैठे रहने से बुद्धि छिप जाती है और विपत्ति का प्रतीकार करने का उपाय नहीं सूझ पाता, इस लिए शान्ति से विचार करना चाहिए। मुझे इस समय एक उपाय सूझ रहा है, वह इस प्रकार है कि] आप जितशत्रु आदि छहों राजाओं के पास एकान्त मे अलग-अलग दूत भेज दीजिए और उनमें से प्रत्येक को कहलवाइये कि 'मैं अपनी कन्या तुम्हें देना चाहता हूँ। सायकाल के समय कि जब मनुष्यों का आवागमन मन्द हो जाता है, आप बगीचे में पधारिये।' इस सन्देश को सुन कर जब वे राजा आ जायँ, तब आप बगीचे के बीच में बनी हुई अलग-अलग छह कोठरियों (गर्भगृहों) में उन्हें अलग-अलग ठहरा दीजिये। फिर मिथिला नगरी के द्वार बन्द कर के सावधानी के साथ प्रतीक्षा कीजिये कि क्या होता है।"

मल्लिकुमारी की इस सलाह का रहस्य तो कुम्भ समझ नहीं पाये, किन्तु उन्हे विश्वास था कि मल्लिकुमारी की बुद्धिमानी जरूर हमें विपत्ति से बचायेगी और इसलिए तुरन्त ही उन्होंने दूतों के द्वारा सन्देश भेज कर उन छहो राजाओं को बगीचे मे बने हुए मोहनगृह की छह कोठरियो मे उसी प्रकार उतरवा दिया कि जैसा मल्लीकुमारी ने बताया था।

राजा लोग शाम के समय आये थे, इसलिए धीरे-धीरे रात हुई और वे उन कोठरियों मे सो गये।

" तए णं से जियसत्तु पामोक्खा छप्पि रायाणो कल्लं ....जालंतरेहिं कणगमयं .. ....पडिमं पासंति ॥ एस णं मल्ली विदेहरायवरकण्णात्ति कट्टु....... रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य मुच्छिया गिद्धा जाव अज्झो-ववण्णा अणिमिसाए दिट्ठीए पेहमाणे चिट्ठंति ॥ "

प्रात काल होते ही जब राजा लोग उठे तो जालान्तर से उनकी नजर उस स्वर्णप्रतिमा पर पडी, जिसका मस्तक कमल से ढँका था। उन्होंने उसे साक्षात् मल्लीकुमारी ही समझ लिया और उसके रूप, यौवन, लावण्य पर मूर्च्छित-आकर्षित हो कर अपलक दृष्टि से उसे देखने लगे। महाकवि कालिदास ने मेघदूत में लिखा है —

" कामार्त्ता हिं भवति कृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥ "

अर्थात् काम से विह्वल मनुष्य को चेतन--अचेतन का विचार नहीं रहता। इसलिए ये राजा अचेतन मूर्ति को भी साक्षात् मल्ली समझ बैठे हैं। सचमुच काम का प्रभाव बड़ा विस्तृत है।

काम का एक पर्यायवाची शब्द 'जिन' है। जैसा कि हैमकोप में लिखा है:—

अरिहन्तोऽपि जिनश्चैव, जिनः सामान्यकेवली।
कन्दर्पोऽपि जिनश्चैव, जिनो नारायणो हरिः॥

यहां अरिहत और केवली तो कर्मों को जीतने के कारण जिन कहलाते हैं, किन्तु काम देव को जिन कहने का आशय यह है कि उसने तीनो लोक के प्राणियो का मन जीता है। मांडलिक राजा, वासुदेव, चक्रवर्त्ती और इन्द्र से भी कामदेव का शासन अधिक विशाल है। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि इन छह सामान्य राजाओं के मन में कामदेव का असर हो रहा है।

सज्जनो! काम का विपय बहुत गम्भीर है। इस पर अधिक से अधिक कहा जा सकता है, किन्तु मैं देख रहा हूँ कि घड़ी का काँटा मर्यादा से कुछ आगे खिसक चुका है। इसलिए अवसर मिला तो कल कुछ कहा जायगा।
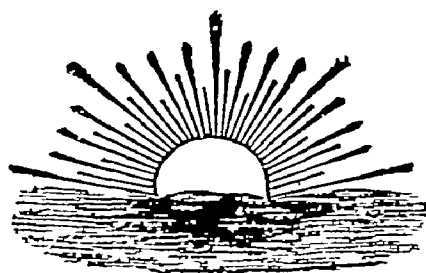
११-मल्लीजी का उपदेश

सज्जनो !

आचार्य सुधर्मा स्वामी अपने सुशिष्य जम्बू स्वामी को "णाया धम्मकहा" के आठवे अध्ययन का अर्थ समझाते हुए कह रहे है कि काममोहित छहों राजा स्वर्णप्रतिमा को साक्षात् मल्ली समझ कर टकटकी लगाते हुए देख रहे है । बच्चा भी माँ को देखता है, भाई बहिन को देखता है, पिता पुत्री को देखता है और सात्त्विक-प्रेम के आनन्द में मस्त हो जाता है, किन्तु ये राजा लोग यहाँ जो टकटकी लगाये देख रहे है, उसमे विशुद्ध प्रेम नहीं वासना है—मोह है—आसक्ति है—विकार है ।

ज्ञानी कहते हैं कि मन में जहाँ विकार आता है, वहाँ विचार भाग जाता है, विवेक नष्ट हो जाता है, इसीलिए तो जड़-मूर्त्ति को ये सचेतन समझ बैठे है ! "जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि" यह लोकोक्ति बहुत प्रसिद्ध है । एक सुन्दरी नारी को जब कामुक व्यक्ति ने देखा, तो कहा—"यह सुलोचना कामिनी है । मालूम होता है, ब्रह्मा ने इसे बनाने मे अपनी सारी शक्ति लगा दी होगी !" एक महात्मा ने देखा, तो कहने लगे—"यह बच्चों की ममतामयी माता है । अपने हार्दिक वात्सल्य से यह बच्चो की सेवा करती है और धीरे-धीरे संस्कार डाल कर उन्हे एक आदर्श मानव बनाती है ।" एक ज्ञानी ने जब देखा तो उसके मुँह से निकल पडा—"जरूर इसने पूर्व-जन्म मे कपट का सेवन किया होगा, तभी तो स्त्रीरूप में अनेक दुःख उठाने के लिए यह जन्म मिला है । मुझे चाहिए कि अपना जीवन निष्कपट और सरल बनाऊँ ! जिससे कि अगले जन्म मे भी स्त्रीरूप

में पैदा न होना पड़े। इस नारी को देख कर मुझे मरलता का पाठ सीखना चाहिये।" किन्तु कुछ ही दूर बैठा हुआ एक कुत्ता सोच रहा था कि "इस नारी का मांस कितना स्वादिष्ट होगा ! ईश्वर करे, यह किसी पत्थर से टकरा कर गिर पड़े और इतने जोर की चोट लगे कि खून अवश्य निकलने लगे, जिससे मुझे चाटने का मौका मिल सके।"

सज्जनो ! एक ही वस्तु को चार जने चार दृष्टियो से देख रहे है। यह भिन्नता भावो के कारण है। यदि भाव शुद्ध हो तो सब कर्म कट सकते हैं। जन्म-मरण का दु.ख छूट सकता है। इसीलिए कहा गया है.—

" भावना भवनाशिनी "

भावना अशुद्ध क्यों होती है ? वासना के कारण। यदि वासना पर विजय पाई जा सके, तो मनुष्य सिद्ध हो सकता है। जैसा कि गंग कवि ने कहा है.—

> अग उपाग अनग बढे तब संग कुसग कछू न विचारे।
> ईश्वर नाचत पार्वती आगे कृष्ण फिरे वन गोपियों लारे॥
> इन्द्रजू भोग कियो अहिल्यासग, गौतम श्राप दियो तिन वारे।
> कवि 'गग' कहे सुन शाह अकब्बर ! सिद्ध सो ही इस काम को मारे॥

भौंरा चतुरिन्द्रिय है और कमल एकेन्द्रिय। भौंरा कमल की सुगंधि मे आसक्त हो कर उसमे चिपक बैठता है। धीरे-धीरे सूर्यास्त होने पर उसमे कैद होकर छटपटा कर प्राण खोता है। इस प्रकार जब चतुरिन्द्रिय की एकेन्द्रिय में भी आसक्ति का इतना दुष्परिणाम निकलता है तो पचेन्द्रिय पुरुप की पचेन्द्रिय नारी में आसक्ति कितनी भयकर होगी ? इसकी कल्पना की जा सकती है।

जितशत्रु आदि छहो राजाओं की आसक्ति का भयंकर फल अभी-अभी महाराज कुम्भ पा चुके हैं। उन्हें अपमानित होकर शत्रुओं को पीठ दिखा कर युद्ध क्षेत्र से भागना पडा है। यह बात मल्लीकुमारी जानती थी। आगे भी न जाने क्या और कैसी विपत्ति का सामना करना पडता। इसलिए वह चाहती थी किसी प्रकार राजाओं को समझा कर उनकी मनोवासना को निर्मूल कर दिया जाय। इससे पिताजी पर आने वाली विपत्ति तो टलेगी ही, पर साथ ही साथ इन सबका आत्मकल्याण भी होगा।

" तए णं मल्लीविदेहरायवरकएणा ण्हाया जाव पायच्छित्ता सव्वालंकारविभूसिया ·· ·· जेणेव जालघरए···· ··· पडिमाए मत्थयाओ तं पउमं अवणेति ॥ "

इसके बाद सवेरा होते ही मल्लीकुमारी स्नान आदि कृत्यों से निपट कर, सब प्रकार के अलकारों से विभूपित होकर, कुछ दासियों के साथ मोहनगृह में आई और उस स्वर्णप्रतिमा के मस्तक पर रक्खा हुआ कमल हटा दिया।

यहाँ " सव्वालकार विभूसिया " शब्द के आधार पर एक हल्का-सा सवाल उठाया जा सकता है कि इस समय मल्लीकुमारी को सादी पोशाक मे राजाओं के सामने जाना चाहिये था, किन्तु वैसा न करके सभी अलकारो से विभूपित होकर गई, तो क्या इस से उनकी वासनाओं के उत्तेजित होने की सम्भावना न थी ?

जरूर थी। किन्तु मल्लीकुमारी की यही तो विशेपता थी कि ऐसी विकट परिस्थिति में भी उनकी भावनाओं को बदल सकी और वासनाओ को निर्मूल करके उन्हे वैराग्य के रग में रगने मे सफल हो सकी। चोरों ने यदि किसी ऐसे आदमी को पकड कर छोड दिया

कि जिसके पास एक भी पैसा नहीं निकला, तो यह एक साधारण बात होगी, किन्तु यदि कोई धनवान् व्यक्ति चोरों के बीच मे फँस कर भी छूट निकले, बल्कि उपदेश द्वारा हृदयपरिवर्त्तन करके उन्हे साहूकार बना दे तो यह एक उल्लेखनीय घटना होगी ! यही बात यहाँ मल्लीकुमारी के लिए भी समझनी चाहिए। उसने उन राजाओं का हृदयपरिवर्त्तन किस प्रकार किया ? यह अगली घटना से प्रकट होने वाला है।

हाँ, तो उधर ज्यो ही मल्लीकुमारी ने उस सोने की प्रतिमा के सिर पर ढका हुआ सुगंधित कमल हटाया, त्यो ही भीतर सड़े हुए अन्न का घोर दुर्गन्ध बाहर निकल पडी ! इस से परेशान होकर उन छहों राजाओ ने अपने-अपने उत्तरीय से नाक ढक ली और मुँह फिरा कर बैठ गये। यह देख कर मल्लीकुमारी ने कहा:—

"किण्णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सएहिं सएहिं उत्तरिज्जेहिं जाव परंमुहा चिट्ठह ?"

हे देवानुप्रिय ! "आप लोग क्यो कपडो से नाक ढक कर मुँह फिराये बैठे हे ?"

सज्जनो ! प्रसग से उर्दू के एक शायर का शैर याद आ रहा है। वह यों है —

"आदत है हमें बोलने की तौल तौल कर।
है एक एक लब्ज बराबर वजन के साथ ॥"

सचमुच तौल-तौल कर—सोच समझ कर बोलने की विचारकों को आदत ही पड जाती है। उनके मुँह से निकला हुआ प्रत्येक शब्द काफी नपा-तुला होता है, वकील, बैरिस्टर आदि कुछ ही मिनिटो मे सैंकड़ों-हजारों कमा लेते हैं और देने वाले भी

खुशी-खुशी उन्हें देते हैं, सो इसलिए कि उनमें अवसर के अनुसार योग्य शब्द बोलने की चतुराई होती है। किसी कवि ने तो यहां तक कहा है कि जो अवसर आने पर मधुर बोलना नहीं जानता, वह गूँगा है:—

"को मूको ? यः काले प्रियाणि वक्तुं न जानाति ॥"

और भी किसी एक संस्कृत कवि ने अन्योक्ति मे कहा है:—

काक कृष्ण पिक कृष्ण, को भेद पिककाकयो ।
वसन्तसमये तात । काक काक. पिक पिक. ॥

अर्थात् कौआ भी काला है और कोयल भी काली है, इसलिए इनमें कोई भेद नहीं दिखाई पडता, किन्तु बसन्त काल में जब दोनों बोलते हैं, तब साफ-साफ पहिचान लिए जाते हैं कि कौआ आखिर कौआ है और कोयल कोयल। बगुलो के बीच में हंस बैठा हो तो सहसा पहिचाना नहीं जाता, किन्तु जब वह बोलता है, तब साफ मालूम हो जाता है कि अमुक हंस है। वाणी से ही मनुष्य के दिल की परीक्षा होती है कि वह कैसा है। इसलिए खूब सोच समझ कर बोलना चाहिये। कहा भी है:—

बोली बोल अमोल है, बोलि सकै तो बोल।
पहले भीतर तोल कर, फिर बाहिरकूँ खोल ॥

मूर्ख और समझदार को परीक्षा उनके शब्दों से ही हो जाती है। यहा जितशत्रु आदि छहों राजा मित्र नहीं थे, शत्रु थे। सज्जन नहीं थे, दुर्जन थे। विरक्त नहीं थे, विलासी थे। फिर भी मल्ली-कुमारी ने उनको "देवानुप्रिय" शब्द से सम्बोधित किया। वह जानती थी कि अन्धे को अन्धा कहने से भी उसे दुःख होता है। मूर्ख को 'मूर्ख' शब्द से पुकारने पर उसे क्रोध आ जाता है।

इसलिए सच्ची बात भी ऐसी कहनी चाहिए जो मीठी हो। संस्कृत मे "देवाना प्रियः" शब्द का अर्थ मूर्ख भी होता है, किन्तु अर्ध-मागधी भाषा मे यह शब्द उस अर्थ मे प्रचलित नही है। "देवाणुप्पिया" का प्रयोग 'देवों के प्यारे' इस अर्थ में खूब हुआ है। इसीलिए मल्लीकुमारी ने दोनों अर्थ प्रकट करने वाले इस शब्द का जानबूझ कर प्रयोग करते हुए उनसे पूछा कि क्यों आप लोग मुंह फिराये बैठे हैं ? इस पर राजाओ ने उत्तर दिया:—

"एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे इमेणं असुभेणं गंधेणं अभिभूया समाणा सएहिं सएहिं जाव चिट्ठामो ॥"

हे देवानुप्रिय ! हम इस दुर्गन्ध से परेशान होकर (नाक ढक कर) इस प्रकार मुँह फिराये हुए बैठे हैं।"

यह सुन कर मल्लीकुमारी ने उन्हे समझाने के लिए कुछ विस्तार से कहा:—

"एवं खलु जइ ताव देवाणुप्पिया ! इमीसे कणग-मयाए जाव पडिमाए कल्लाकल्लि ताओ मणुण्णाओ असणं पाणं खाइमं साइमं एगमेगे पिंडे पक्खिप्पमाणे पक्खिप्पमाणे इमेयारूवे असुभे पोग्गलपरिणामे, इमस्स पुण ओरालिय-सरीरस्स, खेलासवस्स, वंतासवस्स, पित्तासवस्स, सुक्का-सवस्स, सोणियासवस्स, पूयासवस्स दुरुयऊसासनीसासस्स दुरुय मुत्तपूइयपुरिसस्स पुण्णस्स सडणपडणविद्धंसण जाव धम्मस्स केरिसए परिणामे भविस्सति ? तं मा णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! माणुस्सएसु कामभोगेसु सज्जह रज्जह गिज्झह मुज्झह अज्झोववज्झह ॥"

अर्थात्—"हे देवानुप्रिय ! स्वादिष्ट बढिया अशन, पान, खादिम और स्वादिम का भी एक-एक कौर प्रतिदिन प्रातःकाल डालते रहने से इस सोने की सुन्दर प्रतिमा में भी जब इतना बदबूदार वातावरण हो गया है, तब (कल्पना की जा सकती है कि) कफ, वमन, पित्त, शुक्र, शोणित से भरे हुए, बुरे श्वासोच्छ्वास, मूत्र, विष्ठा आदि वाले, सडना-गलना और अन्त मे नष्ट होना ही जिसका स्वभाव है—ऐसे इस औदारिक शरीर के पुद्गलों में कैसा परिणाम होगा ? इसलिए हे देवानुप्रिय ! (मेरी सलाह है कि) आप लोग मनुष्य सम्बन्धी कामभोगो मे न आसक्त होइये, न अनुरागी बनिये, न ललचाइये, न मोहित बनिये, न इनके विषय में चिन्तन कीजिये !"

मल्लीकुमारी के इन सारगर्भित सक्षिप्त, किन्तु सचोट मार्मिक शब्दों से राजाओ की वासना मन्द हो गई। उनके दिल में वैराग्य लहरें मारने लगा। इन शब्दों में शरीर की अपवित्रता के बारे में कहा गया है। इस विषय मे मैं पिछले एक प्रवचन में (अठारहवें प्रकरण मे) बहुत-कुछ कह चुका हूँ, इसलिए विशेष कहने की इच्छा नहीं है। फिर भी प्रसंग के अनुसार थोडा-बहुत कहे बिना दिल नहीं मानता।

सज्जनो ! हमारा यह शरीर सुन्दर दिखाई देता है, सो सिर्फ इसीलिए कि हमारा ध्यान इसकी गंदगी की तरफ नहीं जाता। कमल सुन्दर है, पर वह भी कीचड़ में। गुलाब सुन्दर है, पर उसमे कठोर नुकीली चट्टानें भी हैं। जंगल मे सुन्दर हरियाली होती है, पर वहाँ सिंह-व्याघ्र-चीते-भालू आदि हिंसक क्रूर जन्तु भी होते हैं। शहर सुन्दर है, पर उसमें गदी गटरे भी हैं, गंठकटे चोर भी हैं, मोटर, साइकिल, तागे, ट्रक आदि की चिल्लपो भी है, बड़ी-बड़ी मीलो और फैक्टरियो का कोलाहल भी है—किन्तु इन

सब बातों की ओर हमारा ध्यान हो नहीं जाता। ठीक यही बात शरीर के लिए भी है। बेशक, पुण्यशाली जीवों के शरीर में काफी सौन्दर्य होता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उसमें गंदगी नहीं होती। कानों में मैल नहीं होता। आँखों में गीड नहीं होता। नाक में सेडा नहीं होता। मुंह में लार नहीं होती। शरीर की चमड़ी पर पसीना और मैल नहीं होता। विष्ठा और मूत्र का निर्माण नहीं होता। सब कुछ होता है, फिर भी इन सब बातों को जानते हुए भी मोहनीयकर्म के उदय से इनकी ओर हमारा ध्यान नहीं जा पाता और इसीलिए शरीर को सुन्दर देख कर हम आकर्षित होने लगते हैं, किन्तु ज्ञानी यह बात कभी नहीं भूलते। शंकराचार्यजी का एक श्लोक है —

> "रुधिरत्रिधातुमज्जा–मेदोमांसास्थिसंहतिर्देहः।
> स बहिस्त्वचापिनद्धस्तस्मान्नो भक्ष्यते काकैः॥"

अर्थात् रुधिर, वात, पित्त, कफ, मज्जा, मेद, मांस, हड्डी आदि के संग्रह को ही शरीर कहते हैं, जो ऊपर से एक चमड़ी द्वारा ढका है और इसीलिए उसे कौए नहीं नोच पाते।

यहाँ कवि ने शरीर की असलियत बहुत मजेदार शब्दों में बता दी है। मारवाड़ की बहिनें मेहमानों को जीमाने के लिए बिठाने को एक सुन्दर आसन बनाती हैं, जिसे "गीदी" कहते हैं। इस पर काफी कुशलता से चित्रादि बनाये जाते हैं, किन्तु यह सारी सजावट सिर्फ ऊपर के ही कपड़े पर होती है। यदि ज़रा-सा कपड़ा हटा कर देखा जाय तो भीतर मैले-कुचैले फटे-पुराने कपड़ों के टुकड़े भरे हुए दिखाई देंगे। ठीक इसी प्रकार शरीर का सौन्दर्य भी ऊपर की चमड़ी पर ही निर्भर है। चमड़ी हटा दी जाय, तो सुन्दर और कुरूप व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं रह जाय, दोनों के मांस को चील कौए, गिद्ध और सियार नोच-नोच कर खा जायँ।

दूसरी विचारणीय बात यह भी है कि चमडी का सौन्दर्य परावलम्बित है। सुन्दर से सुन्दर व्यक्ति भी नंगा अच्छा नहीं मालूम होता। आभूषणों से ही सौन्दर्य खिलता है। चक्रवर्ती महाराज भरत को भी एक दिन यह बात माननी पड़ी थी। एक दिन जब वे स्नानादि के बाद वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर दर्पण में अपने सौन्दर्य को निहार रहे थे, उसी समय अचानक उनके हाथ की उँगली से एक अँगूठी गिर पडी, इससे हाथ अच्छा नहीं मालूम हुआ। यह देख कर महाराज सोचने लग गये:—"क्या सौन्दर्य अँगूठी मे है, मेरी उँगली मे नहीं ?" फिर धीरे-धीरे सारे आभूषणों को उतार-उतार कर रखने गये और बार बार अपने शरीर को देखते गये—इससे उन्हें पक्का विश्वास हो गया कि सौन्दर्य शरीर मे नहीं है। आभूषणों से सौन्दर्य प्रकट होता है, इसलिए परावलम्बित है। जो परावलम्बित है, वह सच्चा सौन्दर्य नहीं हो सकता। "धीरे-धीरे शरीर की अनित्यता अशुचिता आदि का ध्यान करते-करते उन्हें वहीं खड़े-खड़े केवलज्ञान हो गया था।

तीसरी बात यह है कि चमडी का सौन्दर्य स्थायी नहीं है। कहा गया है.—"शरीरं व्याधि-मन्दिरम् ॥" शरीर रोगो का घर है। कह नहीं सकते कब कौन-सा रोग पैदा होकर शरीर के सौन्दर्य को क्षणभर मे मिट्टी मे मिला दे। सनत्कुमार चक्रवर्ती को अपने शरीर के सौन्दर्य का अभिमान हो गया था। वास्तव में उनका शरीर बहुत-बहुत सुन्दर था। किसी कवि ने उनके विषय मे लिखा है —

था हुस्न जिसका सूरज के मानिंद।
अतीव जिस्म की चमक-दमक थी ॥

कथाकार कहते हैं कि एक दिन सभा मे दरबारियो के बीच बैठे हुए जब उन्होने पीकदान मे थूँका तो उसमें बिलबिलाते कीड़े

दिखाई देने लगे और ज्यों ही उन्होंने अपने शरीर की ओर देखा त्यों ही मालूम हुआ कि उसमे एक साथ सोलह रोग पैदा हो गये हैं। इससे उन्हें सौन्दर्य की चंचलता का भान हुआ और तुरन्त ही विरक्त होकर आत्मकल्याण की साधना में लग गये।

इस प्रकार शरीर की अशुचिता और अनित्यता की जानकारी होने पर जब बड़े बड़े चक्रवर्तियो को भी वैराग्य हो गया था, तब इन साधारण छह राजाओ को ऐसा बोध होने पर वैराग्य हो जाय तो इसमें कोई आश्चर्य जैसी बात नहीं समझनी चाहिये।

चित्रकार पहले दीवार साफ करता है, फिर चित्र बनाता है। ठीक उसी प्रकार मल्ली कुमारी ने पहले शरीर की अशुद्धता बताते हुए राजाओ की वासना को मन्द करके वैराग्य को मजबूत करने के लिए बाद मे इस प्रकार कहा.—

"एवं खलु देवाणुप्पिया! अम्हे इयातो तच्चे भवग्गहणे...... पव्वइया.... तं संभरह जाइं॥"

"हे देवानुप्रिय! इससे पहले तीसरे भव में हम महाबल आदि नाम के सातो बालमित्र थे। एक दिन साथ ही हम दीक्षित हुए थे और तपस्या करते समय छल करने के कारण मुझे स्त्रीनाम गोत्र कर्म का बन्धन हुआ। फिर जयतविमान में पैदा होकर अपने-अपने आयुष्य को पूरा करने के बाद यहां जम्बूद्वीप मे आप लोग अलग-अलग देशो के छह राजाओ के रूपमें जन्मे और मैं यहां महाराज कुम्भ की राजकुमारी के रूप में पैदा हुई। हे देवानुप्रिय! देवलोक मे आप लोगो ने कहा था कि " हमे प्रतिबोध देना " सो अपने उस वचन को याद करो।"

मल्लीकुमारी के इन शब्दो से छहो राजाओ का दिल एकदम साफ हो गया। वे आत्मचिन्तन में तल्लीन हो गये।

११-मल्लीजी का निश्चय

सज्जनो !

आचार्य सुधर्मा स्वामी अपने सुशिष्य जम्बू स्वामी को "णाया धम्मकहा" के आठवें अध्ययन का अर्थ समझाते हुए कह रहे हैं कि मल्लीकुमारी के उपदेश से प्रभावित होकर आये हुए छहो राजा अपने पिछले कृत्य पर लज्जित हो कर आत्मचिन्तन में तल्लीन हो गये थे। उनके मन का मैल धुल गया था।

जहाँ वक्ता और श्रोता कहने और सुनने मे एकाग्र हो जाते हैं, वहीं उपदेश को असर हो सकता है। एकाग्रता के लिए मन का सरल और स्वच्छ होना जरूरी है। हम देखते हैं कि कोमल और स्वच्छ कपड़े पर रंग जल्दी चढ़ जाता है, इसके विपरीत मैले और कठोर कपड़े पर रग धीरे धीरे चढ़ता है और चढ़ने पर भी सुन्दर नहीं दिखाई देता। यही वात मन के लिए भी समझनी चाहिए। कृष्ण का उपदेश अर्जुन ने ग्रहण किया था, क्यों कि वह अर्जुन था, ऋजु था, सरल था। चाशनी में पडते ही जलेबी रस चूस कर रसीली वन जाती है, किन्तु चाशनी में यदि पत्थर डाल दिया जाय तो वह न रस ग्रहण करेगा, न रसीला बन पायगा। जलेबी और पत्थर का फर्क साफ है। एक कोमल है, दूसरा कठोर। यहाँ आये हुए उन छह राजाओं का व्यवहार भले ही कठोर दिखाई दे रहा हो, पर उनका मन कोमल था, वे चरम शरीरी थे, इसलिए उपदेश का निमित्त पाते ही उनका मन संसार से विरक्त हो गया। वासना छूट गई और राजकुमारी से अपने पूर्व भव का वृत्तान्त सुन कर उस पर विचार करते-करते —

" सुहेणं परिणामेणं पसत्थेणं अज्झवसाएणं लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं जाइसरणे समुप्पन्ने एयमट्ठं सम्मं ॥"

शुभ परिणामों से, प्रशस्त अध्यवसाय से, लेश्याओं के विशुद्ध होने पर उन्हें भी जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। कहा जाता है कि जातिस्मरणज्ञान वाला अपने ९०० पूर्वभवो को जान लेता है। यदि सभी सञ्ज्ञीरूप मे हो। इस प्रकार राजाओं के द्वारा स्वय अपने-अपने पूर्वभवो का वृत्तान्त जान लिये जाने पर राजकन्या की बात पर उनका विश्वास बढ़ गया और श्रद्धा से उनका मस्तक सहसा मल्लीकुमारी के चरणों में झुक गया।

शत्रुओं को जीतना काफी कठिन है, फिर उन्हे वश मे करना तो और भी कठिन है। अपनी युक्ति की सफलता देख कर मल्लीकुमारी को प्रसन्नता हो रही थी इतने ही में जब उसे मालूम हुआ कि उन्हे जातिस्मरण भी हो गया है तो इससे प्रसन्नता और अधिक बढ गई। किन्तु मल्लीकुमारी को इतने पर भी पूरा सन्तोष नहा हुआ था, वह उन्हे आत्म-कल्याण के पथ पर चलाना चाहती थी। यह बात वह कहना तो चाहती थी, पर कहने से पहले स्वयं आचरण में लाना जरूरी समझ रही थी। क्यों कि-—

" मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥ "

महान् पुरुषों के मन में जैसा होता है, वैसा ही बोलते हैं और वैसा ही स्वयं करते हैं। इसलिए दूसरा को उपदेश देकर ससार का त्याग कराने से पहले स्वय ससार छोड़ने की इच्छा प्रकट करते हुए मल्लीकुमारी ने कहा—

" एवं खलु देवाणुप्पिया! अहं संसारभउव्विग्गा जाव पव्वयामि, तं तुब्भे णं किं करेह किं वसह ·······॥"

हे देवानुप्रिय ! मैं तो संसार के भय से उद्विग्न बनी हूँ। प्रव्रज्या लेना चाहती हूँ। पूछती हूँ कि आप लोगो का कार्यक्रम क्या रहेगा ?

इस प्रसग पर यदि कोई पूछ बैठे कि संसार में भय क्या है ? तो उसीसे पूछ लेना चाहिए कि ससार में ऐसी वस्तु कौन-सी है, जिसमे कोई भय न हो ? इससे पूछने वाला जरूर विचार में पड जायगा और अन्त में उसे निरुत्तर होना पडेगा। क्योकि यहां की सभी वस्तुएँ भयंकर है। शेर का शरीर कितना सुनहला और आकर्षक है, पर कौन उसके पास जाना चाहेगा ? रेल के मुसाफिरों को भय रहता है कि किसो टूटे पुल पर गाडो उलट न जाय ! हवाई जहाज मे बैठने वालों को भय रहता है कि रास्ते मे कुछ गडबड हो गई और गिर पड़े तो प्राण न बचेंगे ! धनवानों को भय है कि चोर आकर तिजोरी न उठा ले जायँ, इसके लिए पहरेदार खड़े रखते हैं रात को, फिर भी डर तो लगा ही रहता है कि पहरे-दार ही कहीं चोरो से मिल गये तो जान से भी हाथ धोना पडेगा और माल से भी ! खैर, ये बाते किसी के जीवन में होती हैं और किसी के नहीं होतीं, फिर भी कुछ बातें ऐसी भी है कि जिन से सभी ससारी जीव डरते रहते हैं। शास्त्रकारों ने कहा है:—

" जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि अ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतुणो ॥ "

अर्थात्—जन्म, बुढापा, रोग और मृत्यु—इन चारो प्रकार के दु खो से ससार के प्राणी क्लेश पा रहे हैं। ऐसा कौन है, जो बूढा होकर मरेगा नहीं ? बुढापे का और मौत का डर किसे नहीं लगतो ? और फिर स्वास्थ्य भी तो टिकाऊ नहीं होता ! एक के बाद एक रोग लगा ही रहता है। कहा भी है:—"शरीर रोगमन्दि-

रम्" इसलिए कह नहीं सकते कि कब कौन-सा रोग पैदा हो जाय। इस प्रकार संसार में चारों ओर भय ही भय है:—

"सर्व वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥"

सिर्फ एक ही वस्तु है, जिसमे कोई भय नहीं। वह है—वैराग्य। इसीलिए मल्लीकुमारी का विचार संसार छोड़ कर वैराग्य लेने का—संयमी जीवन बिताने का हो रहा है।

हाँ, तो राजाओ ने यह सुनते ही कहा:—

जइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया! संसार जाव पव्वयह अम्हाणं देवाणुप्पिया! के अन्ने आलम्बणे वा के आहारे वा के अण्णे पडिबंधे मुंडे भवित्ता पव्वयामो ॥"

"हे देवानुप्रिय! यदि आप दीक्षित होना चाहते है, तो फिर संसार मे हमारे लिए आधार या अवलम्बन कौन रहेगा? जैसे आज से पहले तीसरे भव में आप हमारे अनेक कार्यों मे बैलों के लिए मेढी के समान आधार थे, वैसे ही इस भव में भी बनें। हम भी अब ससार में जन्म-मरण के दु खो से बचने के लिए आप ही के साथ दीक्षित होकर मोक्ष मार्ग पर चलना चाहते हैं।" यह सुन कर भगवती मल्लीकुमारी ने कहा:—

"जइ णं तुब्भे संसारभयउव्विग्गा.... गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! सएहिं सएहिं रज्जेहिं जेट्ठपुत्ते रज्जे ट्ठावेह.... पाउब्भवह ॥"

"यदि आप मेरे साथ दीक्षित होकर आत्मकल्याण के पथ पर चलना चाहते हैं तो हे देवानुप्रिय! अपने-अपने राज्यों को

लौट जाइये और वहाँ अपने अपने बड़े पुत्रों को राज्य सौंप कर पूरी तैयारी के साथ हजार पुरुष उठा सकें ऐसी पालखी में बैठ कर यहाँ आ जाइये ।"

यहाँ एक-दो बातो का खुलासा कर देना जरूरी समझ रहा हूँ । नीतिकार कहते हैं:—"शुभस्य शीघ्रम्" अच्छा कार्य तुरन्त कर डालो । इधर आत्मकल्याण के लिए दीक्षित होना अच्छे से अच्छा कार्य है, इसलिए वह शीघ्र ही हो जाना चाहिए, किन्तु यहाँ तो राजाओं को लौटाया जा रहा है । ऐसा क्यो ? मेरी समझ में इसके दो कारण मालूम होते है । एक तो यह कि सब राजा यहाँ शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर सेना के साथ विकारयुक्त भावना से आये थे, किन्तु अब भावना बदल गई है, इसलिए अपनी-अपनी प्रजा को और अन्त.पुर को शुद्ध भावना का परिचय देना जरूरी था । दूसरा यह कि प्रव्रजित हो जाने पर प्रजा अनाथ न रहे, राज्य-व्यवस्था में गड़बड न हो, इस दृष्टि से अपने-अपने बड़े पुत्रो को राज्य सौपना । इन दो कारणो से उनको लौट जाना पड़ा था । एक हल्का-सा सवाल यह भी उठता है कि जब उन्हे दीक्षा लेनी थी, ससार का त्याग करना था तो इसके लिए हजार पुरुष उठा सकें—ऐसी पालखी में सवार होकर आने को क्यों कहा गया ? जिन्हें जीवन भर पैदल चलने का व्रत लेना है, उन्हे अपने-अपने राज्यों से मिथिला तक पैदल ही आने मे क्या कठिनाई हो सकती थी ? इसके उत्तर मे भी दो बातें कही जा सकती हैं । पहली यह कि जो द्रव्य से ऊँचे आसन पर बैठता है, वह भाव से भी ऊँचा उठ सकता है । दूसरी यह कि लोगों मे, जनता मे, दर्शकों में वैराग्य की महत्ता का प्रचार होता है । सब समझने लगते हैं कि हजार पुरुष उठा सकें—ऐसी विशाल पालखी मे सवार होने वालों को अपेक्षा पैदल चलने वाले त्यागी ही अधिक महान् आदरणीय और पूज्य होते हैं । इतना कह कर फिर मैं अपने मूल-विषय पर आता हूँ ।

मल्लीकुमारी के वचन सुन कर सभी राजा वैसा ही करने को जब तैयार थे, तभी मल्लीकुमारी उन्हे साथ लेकर राजमहल में महाराज कुम्भ के समीप आई। ज्यों ही सिंहासन पर विराजमान महाराज कुम्भ ने राजाओं को आते हुए देखा, त्यों ही उनकी घब-राहट और बढ़ गई। वे सोच रहे थे, कि अपने दूतों के अपमान का बदला लेने के लिए ये लोग यहाँ तक चले आये हैं। अब मेरा बचना कठिन है। परन्तु उनकी घबराहट तुरन्त प्रसन्नता मे बदल गई, जब उन्होंने देखा कि मल्लीकुमारी के साथ वे छहों राजकुमार चरणों मे प्रणाम करके अपने अपराधों के लिए नम्रता से क्षमा-याचना कर रहे हैं। उस दिन महाराज कुम्भ को अपनी कन्या की बुद्धिमत्ता पर गर्व हुआ।

पुराना वैर भूल कर महाराज ने भी उन सबका यथोचित आदर-सत्कार किया और प्रेम से विदाई दी।

"तए णं मल्ली अरहा संवच्छरावसाणे निक्खमिस्सा-मित्ति मणं संपहारेति ॥"

राजाओं की विदाई के बाद मल्लीकुमारी ने मन मे निश्चय कर लिया कि मैं एक वर्ष के बाद निष्क्रमण करूँगी।

१३-वार्षिक दान

सज्जनो !

आचार्य सुधर्मा स्वामी अपने सुशिष्य जम्बू स्वामी को "णाया धम्मकहा" के आठवें अध्ययन का अर्थ समझाते हुए कह रहे हैं कि भगवती मल्लीकुमारी ने एक वर्ष के बाद संसार छोड़ने का निश्चय कर लिया है।

यहाँ एक सवाल उठाया जा सकता है कि जब संसार छोड़ने का निश्चय कर ही लिया है, तो फिर एक वर्ष का विलम्ब क्यों? कल के प्रवचन में राजाओं के विलम्ब का कारण बता चुका हूँ कि उनके सामने पुत्रों को राजगद्दी सौंपने की समस्या थी, किन्तु मल्ली-कुमारी के सामने ऐसी कोई समस्या नहीं है। महाराज कुम्भ राज्य संभाल ही रहे हैं और सब ठीक व्यवस्था है ही. फिर क्यों मल्लीजी ने एक वर्ष तक ठहरने का निश्चय किया? इसके उत्तर में दो बातें कही जा सकती हैं।

एक तो यह कि जो संसार में आसक्त हैं, उन्हीं के लिए विलम्ब घातक होता है जैसे कीचड़ में फँसा हुआ व्यक्ति यदि बाहर निकलने में विलम्ब करे तो वह और अधिक गहरा फँसता जायगा! किन्तु मल्लीजी के लिए यह बात नहीं है, वे संसार में रहते हुए भी जल में कमल के समान विरक्त हैं।

दूसरी बात यह है कि विचारकों के लिए विलम्ब साधक बन जाता है। मल्लीकुमारी सोच रही है कि "चारित्र ग्रहण करने के बाद जो काम मुझ से नहीं हो सकेगा, वह है—दान। इसलिए इस एक वर्ष की अवधि में मैं खूब दान दूंगी। मकान जैसे चार

दीवारो पर खड़ा होता है, उसी प्रकार धर्म भी दान, शील, तप और भाव—इन चार तत्त्वो पर टिका रहता है। संयम ग्रहण करने के बाद मुझे धर्मोपदेश देते समय इन चारों तत्त्वो पर प्रकाश डालना होगा, उस समय शील, तप और भाव तो मेरे जीवन मे रहेगे, किन्तु दान न रहेगा ! क्यो कि अतिथिसंविभाग व्रत केवल श्रावक-श्राविकाओ के लिए ही संभव है, साधु साध्वियो के लिए नहीं। इसलिए मुझे चाहिए कि एक वर्ष तक जी भर दान दे दूं।"

"तेणं कालेणं तेणं समएणं सक्कस्स आसणं चलति ...... मल्लि अरहं ओहिणा आभोएति आभोएइत्ता इमेयारूवे अज्झत्थिए .. दाणं दलयंति अरहाणं ॥ एवं संपेहेइ .... गच्छह णं देवाणुप्पिया ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे मिहिलाए रायहाणीए कुंभगस्स भवणंसि इमेयारूवं अत्थसंपयाणं साहराहि ... .. पच्चप्पिणह ॥"

अर्थात्—ज्यो ही इधर मल्लीजी को दान की इच्छा हुई, त्यो ही उधर शक्रेन्द्र का आसन चलायमान हुआ। लौकिक-मान्यता के अनुसार हिचकी आने पर जैसे बहुत-से लोगो का दूर-दूर रहने वाले कुटुम्बियो की ओर ध्यान जाने लगता है कि "हमे कौन अभी याद कर रहा है?" ठीक वैसे ही आसन चलित होने पर शक्रेन्द्र का भी ध्यान गया और उन्होंने अवधिज्ञान का उपयोग करके देखा तो मालूम हुआ कि मिथिला में मल्लीकुमारी वार्षिक-दान करना चाहती है। देवलोक में बैठे-बैठे शक्रेन्द्र को मध्यलोक की बात कैसे मालूम हो गई ? उस समय न तार का आविष्कार हुआ था, न टेलिफोन का ? फिर इतनी दूर मल्लीजी के मन का समाचार कैसे पहुँचा—ऐसी शंका आधुनिक लोगो को सहज ही उठ सकती है, किन्तु उनका ज्ञान भौतिक-वस्तुओं तक ही सीमित है। भौतिक

वस्तुओ की शक्ति भी सीमित है, किन्तु मन की शक्ति भौतिक वस्तुओ से भी अधिक है, यद्यपि मानसिक शक्ति की भी सीमा है, फिर भी भौतिक-पदार्थों से उसकी शक्ति काफी अधिक है। मन से अधिक शक्ति आत्मा की है, क्योंकि आत्मा में अनन्त शक्ति मानी गई है। इसीलिए प्राचीन महापुरुष आजकल के वैज्ञानिको की तरह भौतिक शक्तियों की छानबीन मे न उलझ कर मानसिक और आत्मिक शक्तियो की खोज मे लगे रहते थे। सुना जाता है कि अनुत्तरविमान मे पैदा होने वाले अनुत्तरोववाई देव सदा आध्यात्मिक शक्ति का ध्यान और चिन्तन-मनन करते रहते हैं। चिन्तन करते-करते यदि उन्हे कोई शका होती है तो यहाँ मध्यलोक मे बैठे हुए तीर्थंकर उसे जान लेते है और मन से ही उसका समाधान कर देते है। यह है, आत्म शक्ति का चमत्कार ! शक्रेन्द्र को अवधिज्ञान था, इसलिए उसे मल्लीजी के मन की बात मालूम हो गई।

शक्रेन्द्र ने सोचा कि तीर्थंकरों के वार्षिकदान के अवसर पर उनके भंडार को भरना हम लोगों का जीताचार है, था और रहेगा; इसलिए मुझे अपने इस कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। इसके लिए वैश्रमण देव (कुबेर) को बुला कर यथोचित आज्ञा दी। वैश्रमणदेव ने आनन्द पूर्वक आज्ञा को शिरोधार्य करके जृम्भक देव को बुलाया और कहा कि "शक्रेन्द्र के जीताचार के अनुसार स्वर्णमुद्राएँ मिथिला के भण्डार में डाल आओ।" इस आज्ञा को सुन कर मृत्यु-लोक में गड़े हुए ऐसे धन को कि सात पीढी तक जिसका कोई मालिक न बना हो, निकाला और उसमे से मिथिला में महाराज कुम्भ के खजाने मे शक्रेन्द्र के जीताचार के अनुसार ३,८८,८०,००,००० (अर्थात् ३ अरब ८८ करोड ८० लाख) स्वर्ण-मुद्राएँ भर दी।

" तए णं मल्ली अरहा कल्लाकल्लिं .... बहूणं सणाहाण य अणाहाण य पंथियाण य पहियाण य करोडियाण य कप्पडियाण य एगमेगं हिरण्णकोडिं अट्ठयं अणूणाति सयसहस्साइं इमेयारूवं अत्थसंपयाणं दलयति ॥ "

इधर भगवती मल्लीकुमारी प्रातःकाल उठ कर प्रतिदिन आने वाले अनाथ, सनाथ, पथिक, बंदीजन, भिखारी संन्यासी आदि सब को १,०८,००,००० (अर्थात् एक करोड़, आठ लाख) स्वर्णमुद्राओं का दान करने लगी ।

मल्लीजी ने सनाथ और अनाथ–दोनों को दान दिया था और बताया कि उदारता समभाव मे ही है । नदी अमीरों की भी प्यास बुझाती है, गरीबो की तो बुझाती ही है और फिर कोई पशुपक्षी आ जायँ तो उन की भी । सूर्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का भेद नहीं करता, सब के घरों में समानरूप से अपनी किरणें फैलाता है । बादल सब जगह बरसते हैं, समुद्र मे भी, खेतों मे भी और ऊसर भूमि मे भी । महापुरुष भी ऐसे ही उदार होते हैं, ऐसे ही समभावी होते हैं ।

उदार व्यक्ति को सभी चाहते हैं, सभी उसकी तारीफ करते है । तारीफ उसकी नहीं होती, जिसके पास अधिक है, किन्तु उसकी होती है, जो देता है । यों पानी तो समुद्र में भी है और बादल मे भी, बल्कि बादलों से समुद्र में हजारों–लाखो गुना अधिक पानी है । फिर भी किसान बादलों को देख कर प्रसन्न होता है, समुद्र को देख कर नहीं । कारण साफ है—बादल पानी बरसाता है, समुद्र नहीं । समुद्र केवल संग्रह करता है, इसीलिए उसका पानी खारा है और उसे किसान पसंद नहीं करते ! जो संग्रह तो करता है, पर

दान नहीं करता, उसका पुण्य भी क्षीण होने लगता है। सुना जाता है कि कूप से समय-समय पर पानी निकलता न रहे तो उसके भीतर के झरे बन्द हो जाते हैं और रहासहा पानी भी सड जाता है। यह बात सभी धनवानो को समझ लेनी चाहिए कि यदि पुण्य को क्षीण नही होने देना चाहते हो तो वे सदा अपना हाथ ऊँचा करते रहें, सम्पत्ति का सदुपयोग करते रहें। एक हाथ से लें तो दूसरे हाथ से देते भी रहें।

देने वाले की आत्मा धीरे-धीरे उज्ज्वल होती जाती है—यह बात बादल के दृष्टान्त से ही समझ मे आ जाती है। प्रारम्भ मे बादल काले-काले दिखाई देते हैं, किन्तु ज्यों ज्यों वे बरसते जाते हैं, उज्ज्वल होते जाते हैं।

दीक्षार्थी मल्लीजी के वार्षिक-दान में स्वयं शक्रेन्द्र सहायक हुए हैं। यद्यपि एक का निवास मिथिला मे है और दूसरे का देव-लोक में। फिर मल्लीजी के साथ शक्रेन्द्र का कोई कौटुम्बिक-रिश्ता भी नहीं है, फिर भी केवल गुणो से आकृष्ट होकर शक्रेन्द्र यहाँ सहायक बने हैं। गुणो से सभी आकर्षित होते है। त्याग सब से बडा गुण है। मल्लीजी इस समय स्वर्णमुद्राओ का त्याग कर रही हैं, इसके बाद ससारिक मोह का त्याग करेगी, फिर कर्मो का और अन्त मे शरीर का भी त्याग करके मोक्ष मे पधारेंगी।

दान के इस प्रसग पर एक बात और कह कर आज का प्रवचन समाप्त करूँगा। दान लेता तो वही है न! कि जिसके पास कम हो, जो निर्धन हो, जिसके घर मे खाने के लाले पड रहे हो। धनाढ्य किसी के आगे हाथ नहीं पसारते। यहाँ बैठे हुए श्रोताओं में से बहुत-से लोग श्रीमान् हैं, मै उन से पूछता हूँ कि यदि कहीं खैरात बाँटी जा रही हो तो क्या वहाँ जाकर हाथ पसारेंगे? नहीं,

उन्हें अपनी पोजीशन का भी खयाल रहता है। परन्तु मल्लीजी के सामने हाथ पसारने वालों मे करोडपति श्रीमान् तो हैं ही, पर बड़े-बडे महाराज और चक्रवर्त्ती भी हैं। ऐसा क्यो ? इस प्रश्न के उत्तर मे ३ बातें कही जा सकती है:—

१—तीर्थंकरो के हाथ का दान लेने मे किसी की पोजीशन नहीं घटती, बल्कि बढ़ जाती है।

२—तीर्थंकर देते हैं बहुत, किन्तु जिसके भाग्य मे जितना होता है, उसे उतना ही मिलता है, अधिक नहीं। पास ही इन्द्र खडे रह कर आने वालों की भाग्य-रेखा देखते-रहते हैं और किसी के पास अधिक चला जाय तो उसे वापस ले लेते हैं। इसलिए अपनी भाग्य -परीक्षा के लिए बड़े-बड़े भी जाकर हाथ पसारते हैं।

३—तीर्थंकरों के हाथ का दान अभव्य को नही मिलता, इसलिए अपने भव्याभव्यत्व की जानकारी के लिए बड़े-वड़े चक्र-वर्त्ती भी सामने जाकर हाथ पसारने में नही हिचकते।

धीरे-धीरे भगवती मल्लीकुमारी का वार्षिक-दान सानन्द समाप्त हुआ।

२४-प्रव्रज्या और महानिर्वाण

सज्जनो !

आचार्य सुधर्मा स्वामी अपने सुशिष्य जम्बू स्वामी को " णायाधम्मकहा " के आठवें अध्ययन का अर्थ बताते हुए कह रहे हैं कि भगवती मल्लीकुमारी के वार्षिक-दान का कार्यक्रम सानन्द सम्पन्न हो चुका था। इन दिनों महाराज कुम्भ भी चुपचाप बैठे नहीं रहे थे। उन्होने भी अपनी मिथिला राजधानी में स्थान २ पर अनेक भोजन शालाएँ खुलवा दी थीं और घोषणा करवा दी कि आनेजाने वाला कोई भी भूखा पथिक मिले, उसे आदर सहित विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम का भोजन प्रदान किया जाय।

"तेणं कालेणं तेणं समएणं लोगंतिया देवा जेणेव मल्ली अरहा तेणेव उवागच्छन्ति""एवं वयासी-बुज्झाहि भगवं लोगनाहा! पवत्तेहि धम्मतित्थं जीवाणं हियं सुहं निस्सेयसकरं च भविस्सइ त्ति कट्टु॥ दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी॥......जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया॥"

अर्थात् उस काल और उसी समय में लोकान्तिक देवों, का आसन चलायमान हुआ और उन्होंने अवधिज्ञान का प्रयोग करके जान लिया कि जीताचार के अनुसार हमें भगवती मल्ली जी को प्रतिबोध देना चाहिये। इसके लिए ४००० लोकान्तिक देव अपने

१६००० अंग रक्षको के साथ मिथिला के राजमहल के ऊपर आकाश मे आ पहुंचे और हाथ जोड़ कर मधुर स्वर मे बोले —

"भगवन् ! लोकनाथ ! प्रबुद्ध होइए, धर्मतीर्थ की स्थापना कीजिये, इससे भव्य जीवों का हित, सुख और कल्याण होगा !"

इस प्रकार तीन बार प्रार्थना करके सबने वन्दन किया और जिस ओर से आये थे, उसी ओर चले गये।

मल्लीजी तो प्रव्रज्या के लिए पहले से ही तैयार थीं। इधर लोकान्तिक-देवो की पुकार सुन कर वे अपने स्थान से उठी और जहाँ अपने माता पिता बैठे थे, वहाँ आकर बोली —

"इच्छामि णं अम्मयाओ ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे मुंडे भवित्ता जाव पव्वइत्तए।"

अर्थात् हे माताजी और पिताजी ! आप लोगों की आज्ञा से मैं मुंडित होकर प्रव्रजित होना चाहती हूँ !

माता-पिता ने भी मल्लीजी का उत्कट वैराग्य देखकर आनाकानी करना ठीक न समझा और आज्ञा देते हुए कह दिया.—

"अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह ॥"

अर्थात् हे देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हे सुख हो वैसा ही करो, किन्तु देरी मत करो।"

यहाँ लोकान्तिक देवों ने आकर जो प्रतिबोध दिया है, वह ठीक वैसा ही समझना चाहिए कि जैसा प्राचीन-काल में राजाओ को जगाने के लिए भाट-चारण-वदीजन नियुक्त रहते थे और प्रात काल की मनोहर रागिनी वजा-गा कर उन्हे उठाया करते थे। आज के जमाने में भी कहीं-कहीं यह प्रथा दिखाई पड़ती

है। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए एक बार पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय गुरुदेव के साथ हम लोग महेन्द्रगढ़ मे गये थे, तो वहाँ के राय-बहादुर दानवीर सेठ सुखदेवसहायजी ज्वालाप्रसादजी जौहरी के बँगले पर रोज सुबह कुछ व्यक्तियों को गुणगान करते हुए देखा था। वे लोग उन्हे उठने की प्रार्थना करके चले जाते थे। कुतूहल शान्त करने के लिए पूछताछ करने पर मालूम हुआ कि वे लोग इसी कार्य के लिए नियुक्त है—इसी बात का उन्हें वेतन दिया जाता है। लोकान्तिक देव भी इसी प्रकार प्रत्येक तीर्थंकर के दीक्षोत्सव के पहले अपनी ड्यूटी बजाने चले आते हैं। दूसरी बात यह भी है कि धर्म जैसा करने मे है, वैसा कराने और अनुमोदन करने मे भी है। इसलिए लोकान्तिक देव स्वयं दीक्षा न ले सकें तो न सही, पर प्रतिबोध देकर वैसा कराने या अनुमोदन करने मे क्यो चूके? कृष्ण महाराज ने न कभी सामायिक की और न प्रतिक्रमण किया, किन्तु फिर भी अनेक भव्य-जीवो को दीक्षा दिलवा कर अर्थात् धर्म की दलाली करके तीर्थंकर नाम कर्म गोत्र का उपार्जन कर लिया था। इस बात से हमे यह प्रेरणा लेनी चाहिये कि यदि स्वयं कोई धर्म-कार्य हम न कर सकें तो दूसरो को प्रोत्साहित तो करते ही रहना चाहिए। तपस्या करने में भोजन का त्याग करना पड़ता है, दान में धन को छोड़ना पडता है, शील में पत्नी से दूर रहना पड़ता है, किन्तु दलाली मे क्या छोडना पड़ता है? कुछ नहीं। "हींग लगे न फिटकरी, रग भी ठीक।"

माता पिता ने दीक्षा की आज्ञा देकर भी एक प्रकार से संयम का अनुमोदन ही किया है। यदि माता-पिता अनुमति नहीं देते तो समवायाग-सूत्र के अनुसार वैरागी का वैराग्य उतारने के कारण महा-मोहनीय कर्म का बन्धन हो जाने का भय था। सब कर्मों में मोहनीय-कर्म अधिक प्रबल माना गया है, फिर महामोहनीय तो और भी अधिक प्रबल है। सुनते हैं कि महामोहनीय कर्म

जीव को सित्तर कोडाकोडी सागरोपम तक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होने देता। शराब, गाँजा आदि नशीले पदार्थों का सेवन करने वालों को जैसे भले बुरे का भान नहीं रहता, उसी प्रकार मोहनीय कर्म का उदय होने पर विवेक नहीं रहता। इस लिए इस विषय मे पूरी सावधानी रखनी चाहिए। यदि अनुमोदन भी न हो सके तो मौन रहें, किन्तु ऐसे मामलों मे बाधक बनने की भूल तो कभी होनी ही न चाहिए।

"तए णं कुंभए राया···मल्लिं अरहं सिंहासणंसि पुरत्थाभिमुहं णिवेसति अभिसिंचंति ॥····संपरिधावेंति·· सीयं उवट्ठवेह मल्ली अरहा सीहासणाओ···मणोरमं सीयं दुरूहति · जेणेव सहस्संबवणे उज्जाणे जेणेव असोगवरपायवे ···पंचमुट्ठियं लोयं करेति ·· चरित्तं पडिवज्जइ ॥"

दीक्षा की अनुमति मिलते ही धूमधाम से तैयारियाँ होने लगीं। सोना, चाँदी, ताँबा और मिट्टी के आठ हजार कुम्भ सुगंधित जल से भराये गये। उधर दीक्षोत्सव की तैयारी की बात मालूम होते ही भुवनपति, वाणव्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक-चारों प्रकार के देव असुरेन्द्र से अच्युतेन्द्र तक चौंसठ इन्द्रों के साथ बत्तीस हजार रत्नजटित स्वर्णकलश सुगंधित जल से भर लाये और मनुष्यकृत कलशों पर रख दिये। फिर महाराज कुम्भ और शक्रेन्द्र ने मल्लीजी को अभिषेक के लिए पूर्व दिशा की तरफ मुँह रहे-इस तरह सिंहासन पर बिठाया। सब देवों ने और मनुष्यों ने जय-जयकार की हर्ष ध्वनि के साथ सुगंधित जल से अभिषेक कराया। इधर अभिषेक चल रहा था उसी समय कुछ देवों ने मिथिला को भीतर-बाहर धोकर साफ कर दिया था। फिर सब प्रकार के वस्त्राभूषणों से सुसज्जित करके मनोरमा शिविका में एक

सिंहासन पर मल्लीजी को विराजित किया गया । इसके वाद महाराज कुम्भ की आज्ञा से अट्ठारह श्रेणि-प्रश्रेणी ने तथा अन्य मनुष्यों ने पहले-पहल शिविका उठाई, फिर असुरेन्द्र, सुरेन्द्र और नागेन्द्रो ने उठाई । इस प्रकार हर्षित होकर देवो, दानवों और मानवो के द्वारा मंगल सगीत का नाद करते हुए बीच वाजार से होकर वह शिविका सहस्राम्रवन नामक उद्यान मे लाई गई । उस उद्यान में अशोक वृक्ष के समीप आकर मल्लीजी शिविका से उतर पडी और सभी वस्त्रालकार उतार दिये । फिर मल्लीजी ने स्वय ही पच-मुष्टि-लोच किया । शक्रेन्द्र ने तुरन्त उन केशो को झेल कर उन्हे क्षीर-सागर मे ले जाकर भक्तिपूर्वक छोड़ दिया । फिर मल्लीजी ने सिद्ध देव को नमस्कार करके स्वयमेव सामायिक चारित्र को स्वीकार कर लिया ।

सज्जनो ! अब मल्लीकुमारी राजकन्या से साध्वी वन गई हैं । वहुत से लोग मन मे समझते है कि साधु तो वे लोग वने, जिन्हे कमाना-खाना न आता हो, किन्तु ऐसे लोगो को सोचना चाहिए कि भगवती मल्लीकुमारी राजकन्या थी, उसे सब प्रकार की भौतिक सुख-सामग्री सुलभ थी, उसे किसी प्रकार की कमी नहीं थी, फिर भी उसने ऐश्वर्य को आज ठुकरा दिया है ! वह समझती है कि वास्तविक सुख वाह्य-पदार्थों में नहीं है, आत्मा मे है । कर्म शत्रुओं को परास्त करने के लिए चारित्र एक अच्छा साधन है । इसीलिए वडे-वड़े पट्खण्डाधिपति चक्रवर्त्तियों ने भी सुविशाल साम्राज्य को लात मार कर चारित्र अंगीकार किया है । चार कषायो से अथवा चार गतियो से त्राण करने वाला, रक्षा करने वाला ही चारित्र कहलाता है । ससारी जीव अनादि काल से चौरासी के चक्कर मे पडा है —

"कभी स्वर्ग में हम कभी नर्क में हम ।
रहँट की तरह से घुमाये हुए हैं ॥"

कुओ पर रहँट तो आप लोगो में से बहुतो ने देखा होगा। उसमें बधी हुई छोटी-छोटी मटकियाँ कभी ऊपर आती हैं तो कभी नीचे जाती हैं। यही हालत हमारी है कि—

एगया देवलोएसु नरएसु वि एगया ।
एगया आसुरं कायं अहाकम्मेहिं गच्छइ ॥

कभी देवलोक में, कभी नरक मे और कभी असुर योनि में कर्मानुसार पैदा होते हैं। फुटबॉल खेलने वाले खिलाडी जितनी जोर से जिधर लात मारते हैं, उधर ही फुटबॉल को उसी वेग से जाना पडता है। इसी प्रकार कर्मों के प्रभाव से जीव को इधर-उधर भटकना पडता है। इसी बात को मारवाडी सन्त कवि ने यो कहा है —

"चार गती माइं गेंद-दडी ज्यों गोता बहुला खाया रे ॥"

गेंद के समान चार गति में भटकने से बचने के लिए चारित्र का ही शरण लिया जाता है। व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठ कर विश्वप्रेम की साधना की जाती है। घर छोड कर दुनिया को ही घर बनाना पडता है। सिह का घर गुफा है। प्रमादी सिह गुफा में पडे रहते हैं, किन्तु जिन्हे पराक्रम दिखाना हो, उन्हें गुफा छोड़ कर मैदान में आना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार कर्म शत्रुओ को परास्त करने के लिए, आत्मशक्ति प्रकट करने के लिए घर छोड कर वैराग्यदशा में आना पड़ता है। चारित्र इसमे सहायक होता है।

जिस समय मल्लीजी ने चारित्र अंगीकार किया था, उस समय शक्रेन्द्र की आज्ञा से संगीत, वाद्य आदि की ध्वनि बन्द हो गई थी।

दीक्षोत्सव मे ही इन्द्रादि सम्मिलित होते है, विवाहोत्सव में नहीं। विवाह तो भगवान् महावीर का भी हुआ था, किन्तु उसमें शक्रेन्द्र आये हों— ऐसा कहीं उल्लेख नहीं मिलता। इससे दीक्षा की महत्ता साफ मालूम हो जाती है। देवों का जीवन भोग-प्रधान है, फिर भी ऐसे प्रसंगो पर उनका ध्यान त्यागियों की ओर जाता है। किन्तु मनुष्यो मे मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता होते हुए भी बहुतों का ध्यान भोग की ओर जाता है—यह मानव जीवन के लिए लज्जा की बात है। पहले के मारवाडी लोगों में यह कहावत चल पड़ी थी कि "धर्म करतां गाजे, पाप करंता लाजे ॥" किन्तु आज की परिस्थिति को देखते हुए उस कहावत को यों बदल देना होगा— "धर्म करता लाजे, पाप करंतां गाजे ॥" आज जो सुखसामग्री मिली है, वह पूर्वजन्म के पुण्य का प्रताप है। चतुर किसान खेत में पैदा हुए सारे अन्नकणों को नहीं बेच खाता, किन्तु बीज के लिए कुछ बचा रखता है। बस, इतनी-सी समझदारी भी यदि आज के पुण्यशालियों में आ जाय तो यह लोक भी सुधर सकता है और परलोक भी।

"जं समयं च णं मल्ली अरहा सामाइयचरित्तं पडिवरणे तं समयं.........मणपज्जवनाणे समुप्पन्ने ॥ मल्ली णं अरहा जे से हेमंताणं ... तिहिं इत्थिसएहिं ... तिहिं पुरिससएहि... पव्वइए ॥.....णंदीसरे . पडिगया ॥"

जिस समय मल्लीजी ने सामायिक चरित्र अगीकार किया था, उसी समय तुरन्त उन्हे विपुलमति मन पर्याय ज्ञान हो गया।

काल तो निरन्तर आता-जाता रहता है, किन्तु महापुरुषों के सपर्क से उसका भी महत्त्व बढ़ जाता है। इसीलिए सूत्रकार

उसका उल्लेख करते हुए कह रहे हैं कि हेमन्त ऋतु के दूसरे मास में, चौथे पक्ष में अर्थात् पौष शुक्ला एकादशी को प्रात:काल चउविहार तेले का तप करके मल्लीकुमारी ने ३०० स्त्रियों और ३०० पुरुषों के साथ दीक्षा ली थी। नंद, नंदमित्र, सुमित्र, बलमित्र, भानुमित्र, अमरपति, अमरसेन, महासेन—इन आठों ज्ञातकुमारों ने भी प्रव्रज्या स्वीकार करके आत्मकल्याण के मार्ग पर कदम रक्खा। उधर भवनपति आदि चारों प्रकार के देव इन्द्रों के साथ नंदीश्वरद्वीप पर अष्टान्हिका-महोत्सव करके अपने-अपने धाम को लौट गये।

" तए णं मल्ली अरहा जं चेव दिवसं पव्वइए······ केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने ॥ तेणं कालेणं तेणं समएणं सव्वाणं देवाणं आसणाइं चलंति······पडिगया ॥ कुंभए वि णिगच्छइ ॥······ धम्मं च परिकहंति ॥ "

जिस दिन मल्लीजी प्रव्रजित हुए थे, उसी दिन दोपहर के बाद अशोकवृक्ष के नीचे पृथ्वी शिलापट्ट पर बैठे-बैठे शुभ परिणामों से, प्रशस्त अध्यवसाय से, विशुद्ध लेश्याओं के कारण ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि कर्मों का क्षय होने पर उन्हें केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति हो गई। उधर उसी क्षण सब देवों के आसन चलायमान हुए और सब फिर से वहाँ आये। आते ही उन्होंने समवसरण की रचना की और उपदेश सुन कर नंदीश्वर द्वीप में आठ दिन तक महोत्सव करके जहाँ से आये थे, वहीं लौट गये। महाराज कुम्भ तथा अन्य नागरिक भी लौट गये।

सज्जनो! सूर्य का प्रकाश (धूप) कभी-कभी बादलों से ढका रहता है, किन्तु ज्यों ही हवा का झोंका आता है, बादल हट

जाते हैं। ठीक उसी प्रकार आत्मा पर कर्मों का आवरण है, वह भावना की टक्कर से हट जाता है और आत्मा का ज्ञान-प्रकाश प्रकट हो जाता है। निश्चय दृष्टि से जीव और सिद्ध मे कोई अन्तर नहीं है:—

सिद्धा जैसा जीव है, जीव सो ही सिद्ध होय।
कर्म मैल का आतरा, विरला बूझै कोय॥

सिर्फ कर्म-मैल को दूर करने की जरूरत है। मल्लीजी की आत्मा कर्म-मैल से रहित हो गई थी, उसमें अनन्त अक्षय ज्ञान और दर्शन पैदा हो गया था। भौंरे कलि में नहीं, फूल मे आकर्षित होते हैं। एक ही सोने की खान से निकला हुआ तोला भर सोना और गाड़ी भर मिट्टी का ढेर अलग-अलग रक्खे हों तो व्यापारियों का ध्यान सोने की ओर ही आकर्षित होगा, मिट्टी के ढेर की ओर नहीं। ठीक इसी प्रकार मल्लीजी की आत्मा फूल के समान विकसित और सोने के समान निर्मल और उज्ज्वल हो गई थी, इसलिए अनेक भव्य जीव आकर्षित होकर वन्दन करने आते थे और धर्म देशना सुनते थे।

उधर से जितशत्रु आदि छहों राजा भी अपने-अपने पुत्र को राजगद्दी सौंप कर पुरुषसहस्रवाहिनी शिविका में बैठ कर मल्लीजी के समवसरण में आये। महाराज कुम्भ और महारानी पद्मावती भी परिवार और प्रजाजनों के साथ आई। उस विशाल परिषद् मे —

मल्लिजिन ज्ञान दियो भारी।
यो ससार असार जान नर! संजम सुखकारी॥
काची रे काया, काची रे माया, काचो ससारो।
अल्प सुखारे कारणे क्यूँ मनुष्य जन्म हारो॥

भगवती मल्ली जिन ने उपदेश देते हुए कहा:—"भव्य जीवो! यह संसार असार है। भोगविलास मे स्थायी सुख नही; वास्तविक और सच्चा सुख अपने भीतर है। जिस शरीर के आराम के लिए अट्ठारह पापो का सेवन किया जाता है, वह यही छूट जायगा, साथ नही चलेगा। हम अपने सामने ही अनेक मनुष्यो का दाह-संस्कार करते हैं, पर कभी नहीं सोचते कि इसी प्रकार एक दिन हमारे शरीर का भी दाह-सस्कार किया जाने वाला है। शरीर धर्म के सग्रह के लिए मिला है, किन्तु अज्ञानी लोग पाप का सग्रह करते-रहते है। यह न सोचिये कि बचपन खेलकूद मे बीत गया, जवानी भोगविलास मे चली गई, अब बुढ़ापे मे क्या धर्मसंग्रह करें? यदि आप सम्हल जाएँ तो बुढापे मे भी जीवन को सफल कर सकते है:—

जेसिं पिओ तवो संजमो, खंती।

अर्थात्—तप, संयम, क्षमा और ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले यदि बुढ़ापे मे भी दीक्षा ग्रहण करले तो शीघ्र ही देवलोक मे चले जाते है। इसलिए निराशा छोड कर, प्रमाद छोड़ कर अपनी बची हुई उम्र को धर्मसग्रह मे लगा दीजिए। समय बीतने पर फिर नही आता:—

"जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ।
धम्मं तु कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ॥"

इसलिए धर्माचरण द्वारा जीवन को सफल बनाइये!..."

इस प्रवचन का श्रोताओ पर गहरा असर हुआ। महाराज कुम्भ और महारानी प्रभावती ने श्रावक-धर्म स्वीकार किया। जितशत्रु आदि राजाओं ने भी प्रव्रजित होकर चौदह पूर्व का ज्ञान

सीखा और संयम द्वारा आत्मा को पवित्र करते हुए केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में चले गये। भगवान् महावीर ने अनेक केवली शिष्यों को अपने से पहले ही मोक्ष मे भेज दिया था। भगवान् ऋषभदेव ने भी मरुदेवी माता को अपने से पहले मोक्ष के द्वार में प्रवेश करा दिया था। इसी प्रकार यहाँ भी भगवती मल्लीकुमारी ने अपने पूर्व-जन्म के छह मित्रो को पहले हो मोक्षपुरो में पहुँचा दिया है। सचमुच अरिहन्त ऐसे ही होते हैं। उनके लिए:—

"तिन्नाणं तारयाणं, बुद्धाणं बोहियाणं, मुत्ताणं मोअगाणं"

आदि विशेषण ज्ञानियो ने दिये हैं।

"तए णं मल्ली अरहा सहस्संबवणाओ उज्जाणाओ णिक्खमति ··· गिम्हाणं पढमे मासे दोच्चे पक्खे ··खीणे वेयणिज्जे आउए नाम गोए सिद्धे ॥ · अयमट्ठे पण्णत्ते ॥"

इसके बाद अरिहत मल्लीनाथजी सहस्राम्रवन उद्यान से निकल कर विहार करते हुए भव्य-जीवो को सन्मार्ग बताने लगे उनके किं-शुक प्रमुख २८ गण और २८ गणधर थे। उनके ४० हजार श्रमण-शिष्य थे और बन्धुमती प्रमुख ५५ हजार श्रमणी-शिष्याएँ थीं। एक लाख, चौरासी हजार श्रावक थे और तीन लाख पैंसठ हजार श्राविकाएँ थीं। छह सौ चौदहपूर्व के ज्ञानी, दो हजार अवधिज्ञानी, तीन हजार दो सौ केवलज्ञानी, तीन हजार पाँच सौ वैक्रेय लब्धि के धारक, आठ सौ मन पर्यायज्ञानी, एक हजार चार सौ वादी और दो हजार अनुत्तर विमान में उत्पन्न होने वाले थे। मल्लीनाथजी का शरीर पच्चीस धनुप का था, प्रियगुवर्ण का था, समचतुरस्र संस्थान था, वज्रऋषभनाराच सघयण था।

मल्लीनाथजी सौ वर्ष गृहस्थ रहे, फिर चौपन हजार नौ सौ वर्ष तक केवलपर्याय मे रहे—इस तरह कुल पचपन हजार वर्ष का आयुष्य पूरा होते ही ग्रीष्म ऋतु के प्रथम मास के दूसरे पक्ष में अर्थात चैत्र शुक्ला चौथ के दिन भरणी नक्षत्र के योग में आधी रात के बीतने पर ५०० साधुओं और ५०० साध्वियों के साथ एक महीने का अनशन करके वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, इन अवशिष्ट चारो कर्मों का अन्त हो जाने से सम्मेतशैल शिखर पर महानिर्वाण करके सिद्धगति मे पधारे। अवधिज्ञान से ज्यों ही यह बात देवो को मालूम हुई, त्यों ही चौंसठ इन्द्रों सहित वे महापरिनिर्वाण-महोत्सव मनाने चले आये और नंदीश्वर द्वीप पर ठाठ से उत्साह के साथ अष्टान्हिका महोत्सव करके पुनः जहाँ से आये थे, लौट गये।

हे जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर ने ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र के आठवें अध्ययन का ऐसा अर्थ बताया है।

सज्जनो ! आज भगवती मल्लीकुमारीजी के चरित्र का वर्णन समाप्त हो रहा है। यह धरणगाँव में प्रारभ किया गया था और वहाँ से यहाँ (चोपड़ा) तक के विहार में जो-जो गाँव या शहर आये, उनमें क्रमश इस पर व्याख्यान होते रहे हैं। यहाँ से भी शीघ्र ही विहार का विचार है। भगवान् महावीर ने साधुओं और साध्वियों के लिए नवकल्पी विहार की आज्ञा फरमाई है। यद्यपि विहार मे ईर्यापथिक आदि दोष लगते हैं, फिर भी विहार न करने में अधिक बड़े दोषों की सम्भावना रहती है। जैसा कि किसी ने कहा है —

बहता पानी निर्मला, बधा सो गदा होय।
साधू तो रमता भला, दाग न लागे कोय॥

अन्त मे अब मैं एक छोटी-सी बात और कह कर आज का प्रवचन समाप्त करूँगा। विहार के प्रसंग मे एक सवाल खडा हो सकता है कि साधु छद्मस्थ हैं, इसलिए उनके लिए विहार का विधान ठीक है, किन्तु मल्लिनाथजो क्यो विहार करते थे? वे तीर्थंकर हैं, उनमे किसी प्रकार के दाग लगने की सम्भावना नही है। इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि महापुरुष दूसरों के लिए जो विधान बनाते हैं, उसका स्वयं भी पालन करना व्यावहारिक दृष्टि से जरूरी समझते हैं। दूसरी बात यह भी है कि अनेक भव्य प्राणी धर्मदेशना सुन कर कल्याण-पथ के पथिक बनने लगते है।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!